राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन

(700 ई —1200 ई.)

डॉ. श्याम प्रसाद व्यास

राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर

The publication of the thesis was financially supported by the Indian Council of Historical Research and the responsibility for the facts stated opinions expressed or conclusions reached is entirely that of the author and the Indian Council of Historical Research accepts no responsibility for them

प्रकाशक
राजस्थानी ग्रन्थागार
सोजती गेट के बाहर, जोधपुर

प्रथम संस्करण जनवरी, 1986

मूल्य 95.00 (पचा वे र रुा)

मुद्रक
एम एल प्रिन्टर्स, जोधपुर

RAJASTHAN KE ABHILEKHON KA SANSKRITIK ADHYAYAN (700 AD to 1200 AD)

भूमिका

मध्यकाल मे राजस्थान ने भारतीय इतिहास मे गौरव का एक नया ध्याय जोडा । अदम्य साहस, अद्भुत शौर्य और स्तुत्य त्याग के जो कीर्तिमान क्षेत्र के लोगो ने बनाये, उनसे तुलनीय उदाहरण अन्यत्र भी विरल हैं । ता के लिये प्राणपण से प्रयत्नशील भारतीयो के लिए वे आदर्श और रणा के स्रोत बने ।

मध्यकालीन राजस्थान की गौरव-परपरा को अतिशय महत्व देना इतिहास की सरचना के लिये उपयुक्त नही था और सही अर्थों मे सहायक सिद्ध नही हुआ । विविध कालो का अपना सापेक्षिक महत्व है और इस प्रकार का असंतुलित पक्षपात अन्य कालो के इतिहास-लेखन के मार्ग में बाधक बना । आधुनिक काल मे राजस्थान के इतिहास-लेखन के प्रारभिक चरणो मे यह प्रवृत्ति स्पष्ट है । मध्यकालीन राजवशो की कीर्ति-गाथा को ही आगे की शताब्दियो मे भी प्रसारित किया गया । टॉड, श्यामलदास और गौरीशकर हीराचन्द ओझा से लेकर रामकरण आसोपा, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, जगदीशसिह गहलोत आदि इतिहासकारो ने राजस्थान के राजवशो के माध्यम से ही इतिहास की प्रस्तुति का प्रयास किया । इन श्लाघनीय ग्रथो मे इतिहास राजनीतिक इतिहास तक ही सीमित था, वह राजवशो के अन्त कलह, दरबार के षडयन्त्रो और विभिन्न राज्यो के बीच युद्ध की घटनाओ और राजाओ और राजकुमारो के द्वारा अपनी महत्वाकाक्षो की पूर्ति के लिये किये गये उचित और अनुचित कार्यों के विवरण के पर्याय के रूप मे सिमटा हुआ था । इनमे शताब्दियो के प्रवाह मे आये अगणित मानव और उनके विशाल समाज की उपस्थिति का कोई भी आभास नही होता । समाज मे स्थित मानव ही इतिहास का केन्द्र बिन्दु है । सस्कृति और सभ्यता अपने विविध आयामो मे उसी की कृतिया हैं ।

पिछले चार दशको मे पुरातात्विक गतिविधियो के विस्तार के फलस्वरूप राजस्थान के इतिहास के प्राचीन काल को महत्व मिला है । राजस्थान मे सैधव सभ्यता के अवशेषो ने उसके प्रसार और स्वरूप के विषय मे नये तथ्य प्रदान किये । सैधव सभ्यता के अतिरिक्त भी समैतिहासिक काल मे राजस्थान की सास्कृतिक समृद्धि के पर्याप्त प्रमाण मिले हैं । राजस्थान से होकर बहने वाली सरस्वती नदी के किनारो पर ही ऋग्वैदिक काल मे सभ्यता विशेष रूप से पल्लवित हुई । इस बात के स्पष्ट सकेत मिलते हैं कि प्राचीन काल मे राजस्थान की भौगोलिक विशेषतायें उसकी वर्तमान स्थितियो से कुछ भिन्न थी ।

प्राचीन काल मे राजस्थान मे अनेक वीर जनजातियो का निवास बना । कदाचित कई गणराज्यो ने साम्राज्यवादी लिप्सा से अपनी रक्षा के लिये राजस्थान को उपयुक्त आश्रय स्थान के रूप मे स्वीकार किया । किन्तु

राजस्थान के मच पर गुर्जर-प्रतिहारो के अवतरित होने से पूर्व अनेकों शताब्दियो तक राजस्थान के इतिहास के कुछ बिखरे तथ्य ही उपलब्ध होते हैं, जिन्हे क्रमबद्ध रूप देना सरल नही है।

राजस्थान के इतिहास म पूर्व मध्यकाल का अपना स्थान विशिष्ट है। यह मध्यकाल की गौरवपूर्ण उपलब्धियो की पूर्वपीठिका है, मध्यकालीन समाज के स्वरूप मे और साधारण जन की मानसिकता को समझने के लिये आवश्यक आधार है। व्यक्ति और समाज को उनके गुण और दोषो की समग्रता के साथ पहचानने के लिये पूर्व मध्यकाल मे उनके स्वरूप के स्फुरण की प्रक्रिया को देखना सहायक होगा। मध्यकाल मे प्रतिबद्धता, समपण की भावना, शूरता, वीरता आदि अनेक गुणो के होते हुये भी अनेक अवसरो पर असफल होने के उदाहरण राजनीतिक तत्र, समाज और व्यक्ति के कुछ मूल-भूत दोषो की ओर सकेत करते हैं। राजस्थान की भौगोलिक परिस्थितियो, समाज मे अनेक जातियो की उपस्थिति, विशिष्ट धार्मिक विश्वास और कृत्य और सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तत्र के स्वरूप ने इनके निर्माण मे प्रमुख भूमिका अदा की। राजस्थान के मध्यकाल के लिये ही नही सपूर्ण भारत, विशेष रूप से उत्तरी भारत और दक्षिणापथ मे सामन्तवादी व्यवस्था को समझने के लिये पूर्वमध्यकालीन राजस्थान का साक्षात्कार आवश्यक है। राजस्थान मे सामन्तवादी व्यवस्था की गहराई और विस्तार दोनो ही उल्लेख-नीय हैं। अन्य क्षेत्रो की तुलना मे यहा सामन्तवादी व्यवस्था का जीवन अधिक दीर्घकालीन रहा है।

राजस्थान के साहित्य मे इस व्यवस्था और उससे सम्बन्धित मानसिकता के दर्शन होते हैं। यद्यपि यह अनुमान किया जा सकता है कि ये ग्रथ पूर्व मध्यकाल के लिये भी ग्राह्य विवरण प्रस्तुत करते हैं, किन्तु ऐतिहासिक शोध की मान्यतायें इसमे बाधा उपस्थित करती हैं। रासो साहित्य का अत्यल्प भाग ही अपने वर्तमान रूप मे पूर्व मध्यकाल की कृति माना जा सकता है। प्रबध ग्रथो मे भी विविधकालो की सामग्री का समावेश है। इस काल के सस्कृत साहित्य का अधिकाश दरबारी वातावरण और काव्य-रचना की रूढिगत मान्यताओ के कृत्रिम आवरण से मुक्त होकर जनजीवन के यथार्थ को परिलक्षित करने मे कितना सक्षम है, यह विचारणीय होगा।

ऐसे मे अभिलेखीय सामग्री की उपयोगिता और महत्व के विषय मे अधिक तर्क देने की आवश्यकता नहीं है। अभिलेखो के रचना-काल का प्राय सुनि-श्चित होना और शका और विवाद की सभावना का सीमित होना; उनका पाठ गत अनिश्चय से प्राय मुक्त होना और वर्णित तथ्यो के समकालीन होना अभिलेखीय साक्ष्य की उपयोगिता के पक्ष मे प्रमुख तर्क है। प्रशस्ति अशो मे अतिरजन की सभावना के अतिरिक्त अभिलेखो मे प्रस्तुति प्राय वस्तु-परक ही

होती है। भाषा और शब्दावली मे भी ये अपने समकाल के अधिक निकट हैं। समाज के अनेक महत्वपूर्ण पक्षो, जीवन और व्यवस्था के यथार्थ, पर वे ऐसी सामग्री समेटे बैठे हैं जैसी परपरा से प्रसित ग्रथो मे मिलना सहज नही है।

अपने पूर्व मध्यकालीन अभिलेखीय भडार की दृष्टि से राजस्थान समृद्ध है। प्रस्तुत ग्रथ के विद्वान लेखक ने परिश्रम के साथ इस उपयोगी सामग्री का विधिवत विश्लेषण करके प्रशासन, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन और सामन्तवाद पर बहुमूल्य तथ्यो का सकलन किया है। समकालीय साहित्य और अन्य क्षेत्रो के अभिलेखो से तुलनात्मक विवेचन करके अपने तथ्यो की उन्होने युक्ति सगत व्याख्या प्रस्तुत की है। लेखक का यह प्रयास सराहनीय है। राजस्थान के प्राचीन काल के इतिहास के विद्यार्थी ही नही मध्यकाल के शोधकर्ता भी इस प्रबध को अपने लिये सहायक पथ-निर्देश पायेंगे। पूर्व मध्यकालीन भारत के इतिहास के सही आकलन के लिये तो इस ग्रथ का स्पष्ट ही नये तथ्यो और नई व्याख्याओ के कारण शोधकर्ताओ द्वारा स्वागत होगा।

इतिहास के माध्यम से सही तथ्यो की प्रस्तुति के लिए प्रयासरत विद्वानो और शोधकर्ताओ को इस ग्रथ से परिचित करने मे मुझे हर्षानुभूति हो रही है।

लल्लनजी गोपाल
प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष इतिहास विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्राक्कथन

राजस्थान भारतवर्ष के उन प्रदेशो मे से है जिनकी इतिहास लेखन की अपनी सुदीर्घ श्लाघ्य परम्परा रही है। ख्यात, विगत, रासो तथा अन्यान्य अनेक *साहित्यिक विधाओ का अवलम्बन करके राजस्थान के लेखको ने इस प्रदेश के* गौरवमय इतिहास को भावी पीढियो के लिये सुरक्षित किया। लेकिन ये सभी ग्रथ विशेपत मध्यकालीन इतिहास के लिये ही सहायक होते है। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पूर्व व्यतीत होने वाली पाच शताब्दियो के इतिहास के लिए हमे अब भी प्रधानत आभिलेखिक सामग्री पर ही निर्भर रहना पडता है, साहित्यिक सामग्री अथवा मौद्रिक साक्ष्य हमारी बहुत कम सहायता कर पाते हैं। परन्तु इस युग के (अर्थात् हर्ष के समय से चाहमानो के पतन तक) अभिलेखो का अध्ययन करते समय अधिकाश इतिहासकरो की दृष्टि अभाग्यवश राजनीतिक एव राजवशीय इतिहास विषयक सामग्री के दोहन पर केन्द्रित रही है, सास्कृतिक इतिहास के लिए उनका महत्व आकने की ओर कम। यो तो प्रतिहारो, चाहमानो परमारो और अन्य राजवशो के ऊपर अनेक स्वतत्र ग्रथ लिखे गए हैं, लेकिन इनमे से किसी के लेखक ने भी प्रधानत अभिलेखो की सहायता से सास्कृतिक अवस्था का निरूपण नही किया है। प्रस्तुत ग्रथ मे प्राच्य विद्या की इस कमी को दूर करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे सर्वप्रथम विषय प्रवेश के अन्तर्गत पूर्वमध्यकालीन राजस्थान के अभिलेखो के परचिय से सम्बन्धित कुछ चर्चा की गयी है एव सास्कृतिक इतिहास के अध्ययन के लिये अभिलेखो का महत्व बताया गया है। शेष प्रबन्ध पाच अध्यायो मे विभाजित है। इनमे प्रथम अध्याय मे पूर्वमध्यकालीन राजस्थान के प्रशासन पर अभिलेखो से उपलब्ध सामग्री का विवेचन है। अभिलेखो मे तत्कालीन प्रशासकीय व्यवस्था, का वडा रोचक एव विश्वसनीय चित्र मिलता है। इसको हमने राजा, युवराज, महादेवी, राजसभा और केन्द्रीय प्रशासन, राजस्व व्यवस्था, सैनिक प्रशासन, सुरक्षा व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, प्रादेशिक प्रशासन, स्थानीय प्रशासन—इन अनुभागो मे विभाजित किया है।

द्वितीय अध्याय मे अभिलेखो से ज्ञात धार्मिक अवस्था का निरूपण है। तत्कालीन राजस्थान मे वैदिक धर्म की परम्परा चली आ रही थी, पौराणिक मत व सम्प्रदाय लोकप्रिय थे एव अनेक मध्यकालीन मत मतान्तर जन्म ले रहे थे। इन सवका विवेचन हमने शैव धर्म, वैष्णव धर्म, ब्रह्मा, सूर्य, शाक्त पूजा, अन्य देवगण, जैन धर्म, बौद्ध धर्म अनुभागो के अन्तर्गत किया है।

तृतीय अध्याय का विषय है सामाजिक स्थिति । पूर्वमध्यकालीन राजस्थान मे जबरदस्त सामाजिक परिवर्तन हुए । इस युग मे शनै शनै वे जातिया महत्वपूर्ण हो गई जो राजपूत नाम से विख्यात है । लेकिन मूलत राजस्थान मे सामाजिक व्यवस्था वर्ण और जाति भेद पर आधारित थी । अभिलेखो मे इन सभी समस्याओ पर महत्वपूर्ण सामग्री मिलती है । इसके अलावा सामाजिक जीवन के अन्य पक्षो का रोचक चित्र भी अभिलेखो मे प्राप्त होता है । इन सबका वर्णन हमने वर्ण एव जाति, स्त्रिया, व्रत उत्सव, तीर्थस्थल, आमोद-प्रमोद-मनोरजन, खान पान अनुभागो के अन्तर्गत किया है ।

सास्कृतिक जीवन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है आर्थिक स्थिति । अभिलेख इस क्षेत्र मे विशेष उपयोगी होते हैं । क्योकि अधिकाश अभिलेखो का विषय भूमिदान अथवा आर्थिक जीवन के अन्य पक्ष थे, इसलिये किसी भी प्रदेश के आर्थिक जीवन का विश्वसनीय ज्ञान अभिलेखो की सहायता से हो जाता है । राजस्थान के विषय मे भी यही बात लागू होती है । हमने आर्थिक जीवन के विषय मे अभिलेखिक सामग्री को निम्नलिखित अनुभागो मे बाटा है—भू स्वामित्व, नगर और ग्राम, मुख्य धधे, सिचाई व्यवस्था, व्यापार श्रेणिया, नाप तौल, सिक्के तथा ब्याज की दर ।

हमारा पाचवा और अन्तिम अध्याय सामन्तवाद से सम्बन्धित है । जैसा कि सर्वज्ञात है गुप्तकाल से भारत मे सामन्तवाद का विशेष विकास हुआ । हर्ष के समय से तो सामन्तवाद राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन का मुख्य लक्षण बन गया । वास्तव मे पूर्व मध्यकाल मे सामन्तवाद सभी भारतीय प्रदेशो के सास्कृतिक जीवन की मुख्य विशेषता था । हमने सास्कृतिक जीवन के इस महत्वपूर्ण पक्ष का इस अध्याय मे विवेचन भारत मे सामन्तवाद : उदय, प्रकृति और परिवर्तनशील रूप, प्रतिहार साम्राज्य मे सामन्तवाद का विकास, अन्य साम्राज्य मे सामन्तवाद का विकास—इन अनुभागो के अन्तर्गत किया है ।

इस पुस्तक के लेखन मे मुझे अनेक महानुभावो ने सहायता एव सहयोग प्रदान किया है । इस विषय पर कार्य करने की प्रेरणा मुझे परमश्रद्धेय डॉ श्रीराम गोयल, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय ने (जो मेरे परिवीक्षक भी रहे) दी थी । उनके सतत, सक्रिय तथा सर्वदा सुलभ स्नेहपूर्ण निदेशन के बिना इसे पुस्तक के रूप मे प्रदान करना सम्भव नही था । उन्होने मुझे अपने व्यक्तिगत ग्रथ-सग्रह से सभी आवश्यक सामग्री प्रदान की मेरे प्रबध की पाण्डुलिपि सुधार कर तथा अनेक बहुमूल्य सुझाव देकर मुझे उपकृत किया एव विभिन्न व्यस्तताओ के होते हुए भी आद्योपान्त पथ-प्रदर्शन और दुरूह समस्याओ के समाधान द्वारा मेरे उत्साह एव विश्वास को सवलित किया । इसके लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञता तथा आभार प्रकट करता हूँ । वस्तुत वह

सम्पूर्ण प्रबंध यदि गुरु प्रसाद कहा जाय तो अत्युक्ति नही होगी। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करके मैं ऋण मुक्त होने का प्रयास नही करूगा।

मुझे अपने इस शोध कार्य मे गुरुवर्य डॉ श्रीराम गोयल के अतिरिक्त दो अन्य गुरुजनों से विशेष प्रेरणा और सहायता मिली। वे है मेरे पूज्य पिताश्री डॉ रामप्रसाद व्यास (पूर्व अध्यक्ष इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय) एव इतिहास विभाग के ही रीडर डॉ दिनेशचन्द्र शुक्ल। पूज्य पिताश्री ने राजस्थान के सास्कृतिक इतिहास व अभिलेखो के अध्ययन मे मेरी रुचि को निरन्तर बढाया, समय-समय पर मुझे उपयोगी अध्ययन सामग्री उपलब्ध करवाई और मेरे लेखन की अनेक त्रुटियो से मुझे अवगत किया। डॉ दिनेश चन्द्र शुक्ल ने भी मेरी पाण्डुलिपि का आद्योपात पढा उसकी भाषा को निखारने में सहायता दी और पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के सास्कृतिक इतिहास के विषय मे अपने सुझाव देकर मुझे उपकृत किया। इन दोनो ज्ञानवृद्ध तथा अनुभववृद्ध गुरु जनो की प्रेरणा और सहायता के बिना मे यह ग्रथ उस रूप मे प्रस्तुत नही कर सकता था जिस रूप मे प्रस्तुत कर पाया हूँ।

मैं इतिहास विभाग के अन्य सभी गुरुजनो तथा स्व डॉ मागीलाल व्यास एव श्री प्रकाश बाफना के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ जो मुझको मेरे इस पुस्तक के लेखन काल मे सदैव प्रोत्साहित करते रहे हैं।

इस प्रबन्ध के प्रणयन मे अनेक आधुनिक विद्वानो के ग्रन्थो से सहायता ली गई है। मैं ऐसे सभी विद्वानो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हू। उनके नाम सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची मे परिगणित हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन मे मैंने राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिस्ठान जोधपुर, केन्द्रीय पुस्तकालय, जोधपुर विश्वविद्यालय तथा सुमेर सार्वजनिक पुस्तकालय, जोधपुर मे उपलब्ध सभी सामग्री का उपयोग किया है। इसके लिये मैं उपर्युक्त सस्थाओ के अधिकारियो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अन्त मे अपनी पूज्या मातुश्री श्रीमती फूलकुंवर देवी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होने शोध करन के लिये मेरा उत्साह निरन्तर सवर्द्धित किया और कभी भी पारिवारिक क्रियाकलापो को मेरे काय मे बाधक नही होने दिया। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती सतोष व्यास एम एस-सी टकित प्रतिलिपियों को सुधारने और सकेत सूची बनाने मे सहायता देकर अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। इसके लिए वह प्रशसा की अधिकारिणी है।

यह ग्रन्थ पी-एच डी की उपाधि हेतु जोधपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत मेरा शोध प्रबन्ध न्यूनाधिक सवर्द्धित रूप मे प्रस्तुत है। भारतीय इतिहास अनुसधान परिषद् का जिसने मुझे इस पुस्तक को मुद्रित करवाने के लिए अनुदान दिया बडा आभारी हूँ। श्री राजेन्द्र सिघवी और श्री जगदीश ललवानी ने क्रमश प्रकाशन और मुद्रण का कार्य लगन और तत्परता से सम्पन्न किया उसके लिए मैं उन्हे हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। डॉ लल्लनजी गोपाल, प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, इतिहास विभाग हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने इसकी भूमिका लिखी है, इसके लिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ।

विषय सूची

संकेत सूची

अ चौ डा	अर्ली चौहान डायनेस्टीज, द्वितीय सस्करण, दिल्ली 1975
आई ए	इण्डियन एण्टिक्वेरी, बम्बई
आई एच क्यू	इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता
आई सी	इण्डियन कल्चर, कलकत्ता
इ आई	एपिग्राफिया इण्डिका
ए एस आई ए एस	एन्वल रिपोर्ट ऑफ दि आर्क्योलोजिकल
आई आर	सर्वे ऑफ इण्डिया
ए आर आर एम	*एन्वल रिपोर्ट ऑफ राजपूताना म्यूजियम,* अजमेर
ए.पी जे एल एस	अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख सदोह
एस आर के आई	सिरोही राज्य का इतिहास
एस जे जी	सिंघवी जैन ग्रन्थ माला
कार्पस	कार्पस इन्स्क्रिप्सनम् इण्डिकेरम
डी एच एन आई	डायनेस्टिक हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया, द्वितीय सस्करण 1973
जे ए एस बी	जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल, कलकत्ता
जे बी बी आर ए एस	जर्नल आफ दि बोम्बे ब्राच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जे एन एस आई	*जर्नल ऑफ न्युमिस्मेटिक सोसायटी आफ* इण्डिया, वाराणसी
जे यू पी एच एस	जर्नल ऑफ यू पी हिस्टोरिकल सोसायटी, लखनऊ
जे ले स	जैन लेख सग्रह, कलकत्ता
ना प्र प	*नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी*
पी आई एच सी.	प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्टरी काग्रेस
पी आर एच सी	प्रोसीडिंग्स ऑफ राजस्थान हिस्टरी काग्रेस
पी आर ए एस	प्रोग्रेस रिपोट आफ दि आर्क्योलोजिकल सर्वे
डब्ल्यू सी	वेस्टन सर्कल
प्रा जै ले स	*प्राचीन जैन लेख सग्रह*
बी आई	भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स
बी जी	बोम्बे गजेटियर
बी एस एस	बोम्बे सस्कृत सिरीज
रिकार्डस	*बुद्धिस्ट रिकार्डस ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड* (सी यू की) ले युवान च्वाग, अनु एस बील, लन्दन, 1906
रा थ्रू ए	राजस्थान थ्रू दि एजिज, ले दशरथ शर्मा बीकानेर
रा इ	राजस्थान का इतिहास, ले गोपीनाथ शर्मा
वी वि	वीर विनोद

विषय प्रवेश

भारत के दक्षिण-पश्चिम म स्थित राजस्थान ऐतिहासिक तथा पुरातात्विक सामग्री के लिए इतिहासज्ञो, विद्वानो और लेखको के लिए प्रारम्भ से ही आकर्षण-केन्द्र रहा है। इस भाग मे प्रागैतिहासिक तथा पुरैतिहासिक पुरावशेष पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी क्षेत्रा से प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होते हैं जिससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि अतीव प्राचीनकाल मे ही इस भूभाग मे मानव जीवन पल्लवित हो गया था। इस सम्बन्ध मे लूनी और बनास आदि नदियो की उपत्यकाओ मे किये गये उत्खनन और स्थल-सर्वेक्षण उल्लेख्य हैं। राजस्थान के इतिहास मे आधुनिक विद्वानो की रुचि इस प्रदेश की वीर-परम्परा जनित कथाओ से प्रारम्भ हुई जो पुरातात्विक अन्वेषणो के परिणाम स्वरूप प्राप्त सामग्री के कारण अनेकश बढी। इसके परिणाम स्वरूप इस क्षेत्र के विविध कालिक इतिहास का विश्लेषण, अध्ययन और लेखन प्रारम्भ हुआ। इस प्रसग मे पुरानी पीढी के इतिहासकारो मे कर्नल टॉड, एल पी टेस्मीटोरी, जनरल कनिंघम, डब्ल्यू डब्ल्यू वैब, डी आर भाण्डारकर, गौ ही. ओझा, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, रामकर्ण आसोपा इत्यादि के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन का सक्षिप्त इतिहास

आधुनिक काल म कर्नल टॉड ने अपने ग्रथ 'एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान' के द्वारा पहली बार राजस्थान के इतिहास को व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनके समय की परिस्थितियो के कारण उनका अध्ययन अधिकाँशत अनुश्रुतियो एव गाथाओ पर आधारित था। उनके उपरान्त इस परम्परा की अगली कडी के रूप मे मेवाड राज्य के दरबारी इतिहासकार श्यामलदास की रचना 'वीर विनोद' का उल्लेख किया जा सकता है। टॉड के ग्रथ से 'वीर विनोद' अपेक्षया अधिक प्रामाणिक रचना है। इसी परम्परा का अनुसरण गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने राजस्थान की विभिन्न रियासतो का इतिहास प्रस्तुत करके किया। उनके श्रम के कारण उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, सिरोही, डूगरपुर, प्रतापगढ तथा बासवाडा का इतिहास प्रकाश मे आया। उनके उपरान्त रामकर्ण आसोपा, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, जगदीशसिंह गहलोत, मथुरालाल शर्मा प्रभृति लेखको ने राजस्थान की विविध रियासतो का इतिहास लिखा।

राजस्थान की रियासतो के इतिहास-लेखन की परम्परा के साथ इस प्रदेश के प्राचीनतर राजवशो के इतिहास-लेखन की परम्परा भी लोकप्रिय हुई। इस परम्परा मे डी सी गगूली कृत 'हिस्टरी ऑफ द परमारज' (1933), बी एन पुरी द्वारा लिखित 'द हिस्टरी ऑफ गुर्जर प्रतिहारज'

(1957), दशरथ शर्मा का ग्रंथ 'अर्ली चौहान डायनेस्टीज' (1964), आर बी सिंह का शोध-प्रबंध 'ए हिस्टरी ऑफ द चाहमानज' (1964), प्रतिपाल भाटिया का शोध-प्रबन्ध 'द परमारज' (1970), इत्यादि उल्लेखनीय है। अन्य राजपूत वंशो के इतिहास पर लिखित शोध प्रबन्ध मे जिनसे राजस्थान के इतिहास पर प्रत्यक्षत या परोक्षत प्रकाश पडता है ए के मजूमदार का 'द चालुक्यज ऑफ गुजरात' एव रोमा नियोगी का ग्रंथ 'द हिस्टरी ऑफ द गहडवाल डायनेस्टी' (1959) उल्लेखनीय है। समग्र राजस्थान को दृष्टि मे रखते हुए भी इतिहास-लेखन का प्रयत्न हुआ है जिसमे दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित 'राजस्थान थ्रू द एजिज' खण्ड एक (1966) तथा गोपीनाथ शर्मा द्वारा लिखित 'राजस्थान का इतिहास' भाग 1 (1973) उल्लेखनीय हैं। दिनेश चन्द्र शुक्ल ने भी अपने शोध-प्रबन्ध 'अर्ली हिस्टरी ऑफ राजस्थान' मे लगभग 600 ई पू से 750 ई तक के राजनीतिक इतिहास का विस्तृत विवेचन करके एक गम्भीर कमी की पूर्ति की है।

लेकिन उक्त विद्वानो ने अपनी रचनाओ म राजनीतिक इतिहास पर विशेष ध्यान दिया है, सास्कृतिक इतिहास पर बहुत कम। इस युग के सास्कृतिक इतिहास पर जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उनम समग्र उत्तर भारत को दृष्टिगत रखते हुए सास्कृतिक जीवन के किसी एक पक्ष अथवा मात्र एक दो शती का अध्ययन किया गया है, विशेषत मात्र राजस्थान के सास्कृतिक इतिहास का नही। ऐसे ग्रन्थो मे लल्लनजी गोपाल की 'द इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया' (1965), बी एन एस यादव की 'सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया' (1973), बी एन शर्मा की 'सोशल एण्ड कल्चरल हिस्टरी आफ नार्दर्न इण्डिया' (1972) इत्यादि उल्लेख्य हैं। दूसरे, उत्तर भारत के सास्कृतिक इतिहास का लेखन जितना भी हुआ है उसमे अधिकांशत साहित्यिक सामग्री का ही प्रयोग किया गया है, अभिलेखीय साक्ष्यो का उपयोग प्राय राजनीतिक घटनाओ के प्रसग मे ही हुआ है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस दृष्टि से इस दिशा म अपने ढग का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। इसमे राजस्थान के लगभग 700 से 1200 ई तक के अभिलेखो का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसकी ओर उपर्युक्त ग्रथो मे केवल अशत ही ध्यान दिया गया है।

राजस्थान के अभिलेख. परम्परा, लिपि, भाषा, सवत् आदि

राजस्थान के अभिलेख उत्कीर्ण करवाने की परम्परा सुदीर्घ है। कालीबगा से उपलब्ध हडप्पाकालीन मुद्राओ[1] से स्थानीय अभिलेखीय परम्परा की

1 दे साकलिया, एच डी, द प्री हिस्टरी एव प्रोटो हिस्टरी ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ 383

प्राचीनता प्रमाणित है। इस मुद्रा लेखो के उपरान्त (जिन्हे अब तक पढा नही जा सका है)[1] एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् अशोक के मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि म उत्कीर्ण बैराठ एव भाब्रु अभिलेख उपलब्ध होते हैं। तदनन्तर राजस्थान वडली, नगरी, घोसुण्डी, नादसा, बडवा, बर्नाला इत्यादि स्थलो से प्राप्त अभिलेखा म मौर्य तथा मौर्योत्तर ब्राह्मी लिपि का प्रयोग हुआ है।[2] गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि मे लिखित लेखो म छोटी सादडी भ्रमर माता (वि स 547)[3] गगधार[4] एव विजयगढ[5] अभिलेखो की गणना की जा सकती है।

ब्राह्मी लिपि के एक अलकृत रूप का 'कुटिललिपि' के रूप म विकास हुआ।[6] कुण्डा अभिलेख (वि स 718),[7] कल्याणपुर अभिलेख (7वी, 8वी शती),[8] राजौर अभिलेख (वि स 1016)[9] इत्यादि मे कुटिल लिपि का ही प्रयोग हुआ है। इस लिपि मे अलकरणप्रियता प्रदर्शन से सौन्दर्य-वृद्धि अवश्य हुई परन्तु अक्षरो का पहचानना कठिन हो गया। राजस्थान मे कुटिल लिपि के सामानान्तर हर्ष कालीन नागरी लिपि का प्रचलन भी हुआ। द्वितीय नागभट के बुचकला अभिलेख[10] (वि स 872) मे इस लिपि का प्रयोग है। तदन्तर शनैः शनै आधुनिक नागरी लिपि का विकास हुआ जिसका प्रचलन हमारे अध्ययनकाल के बाद विशेषत मिलता है।

आलोच्यकालीन राजस्थानी अभिलेखो मे अधिकाशत सस्कृत भाषा का ही प्रयोग हुआ है किन्तु प्राचीनतर एव हमारे युग के कतिपय प्रारम्भिक अभिलेखो म अर्द्धमागधी एव प्राकृत का भी प्रयोग मिलता है। यथा

1 इस लिपि को पढ लेने का दावा अनेक विद्वानो ने किया है। इनमे एस आर राव का नाम नवीनतम है, वही, पृ. 386
2 इन अभिलेखो के लिए दे, गोयल, श्रीराम, भारतीय अभिलेख-सहिता, 1, जयपुर, 1981
3 इ आई, 30, पृ. 122
4 फ्लीट, कापस 3 पृ 74-76
5 ए आर ए एस आई, 1910-11, पृ. 40
6 वस्तुत कुटिल लिपि नागरी लिपि एव ब्राह्मी लिपि के मध्य की एक कडी है।
7 इ आई, 4, पृ 31
8 जे आई एच, 35, 1957, पृ 73-74
9 इ आई, 3, पृ 266
10 वही, 9, पृ 198-200

अशोक के बैराठ अभिलेख[1] म मौयकालीन अर्द्धमागधी का तथा कक्कुक के घटियाला अभिलेख[2] मे गुप्तोत्तर प्राकृत का प्रयोग हुआ है। सस्कृत भाषा के अभिलेखो मे शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि स अनेक रोचक तथ्य उपलब्ध होते हैं। इनमे कई ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका सामान्य प्रचलित अर्थ ग्रहण नही किया जा सकता। उदाहरण के लिए नाडोल से प्राप्त जोजलदेव के वि स 1147 के अभिलेख[3] म 'शूलपाल' शब्द का प्रयोग है। मोनियर विलियम्स ने अपने शब्दकोष म इसका अर्थ 'वेश्यालय रखने वाला' दिया है परन्तु अभिलेख की विषय-वस्तु की दृष्टि से यह अर्थ असगत है। वस्तुत यहाँ 'शूलपाल' का अभिप्राय किसी ऐसे राज्य कर्मचारी से लगता है जो देवयात्रा के समय एक शस्त्र विशेष लेकर चलता था। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों मे कई ऐसे शब्द भी प्रयुक्त किए गए हैं जिनका प्रयोग सस्कृत साहित्य म अन्यत्र नही मिलता। उदाहरणार्थ जोजलदेव के उक्त अभिलेख[4] म 'वड्हर' शब्द का प्रयोग है जो स्थानीय शब्द 'वडेरा' का सस्कृत रूपान्तर है।[5] इस शब्द की पुनरावृत्ति केल्हणदेव के वाणेरा ताम्रपत्र[6] म भी हुई है। चाहमान अभिलेखो मे गोडवाड क्षेत्र म प्रचलित नामो से सम्बन्धित स्थानीय शब्दो का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। यथा पाइला, वाड,वाडी, वाडि, पंटी इत्यादि।[7] इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि अभिलेखो मे प्रयुक्त सस्कृत भाषा पर स्थानीय प्रभाव पडा था। यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि इन अभिलेखो मे प्रयुक्त सस्कृत भाषा पूर्णत व्याकरण सम्मत नही कही जा सकती। इसका कारण सम्भवत उत्कीर्णक का सीमित ज्ञान था। अभिलेख उत्कीर्ण करने की पद्धति म उत्कीर्णक का साक्षर होना आवश्यक नही था। लेखक, प्रतिलिपिक और उत्कीर्णक पृथक्-पृथक् व्यक्ति होते थे। इसलिये लेखक द्वारा रचित सामग्री से प्रतिलिपिक द्वारा लिखित और उत्कीर्णक द्वारा उत्कीर्णित सामग्री कभी-कभी किंचित भिन्न हो जाती थी।

राजस्थान के अभिलेखो म विविध सवतो का प्रयोग हुआ है। ओझा, पाण्डेय आदि विद्वानो न अजमेर क्षेत्र से प्राप्त वडली अभिलेख म 527 ई पू म प्रारम्भ माने जाने वाले वीर सवत् का प्रयोग बताया है।[8] इस सवत्

1 कार्पस, 1 पृ 172
2 ज आर ए एस, 1895, पृ 516
3 इ आई, 11, पृ 27
4 वही।
5 वही।
6 वही, 13, पृ 208
7 वही, 11, पृ 39
8 ओझा, गो हो, भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ 2, पाण्डेय, इण्डियन पलियोग्राफी, पृ 21

का प्रारम्भ 24 वें तीर्थंकर महावीर के निर्वाण वर्ष से माना जाता है। परन्तु डी सी सरकार[1], एस आर गोयल[2] आदि ने इस लेख म वीर सवत् के प्रयोग की सम्भावना अस्वीकृत की है। राजस्थान मे इसका प्रयोग सर्व प्रथम राजपूत कालीन जैन अभिलेखो म हुआ है। राजस्थान क अभिलेखो मे सर्वाधिक प्रयुक्त सवत् विक्रम सवत् है जिसका आरम्भ ईसा से 57 वर्ष पूर्व हुआ। कतिपय अभिलेखो म 606 ई के हर्ष सवत् का प्रयोग है यथा तासी अभिलेख[3], कामा अभिलेख[4] आदि। कुटुकदेव के सेवाडी अभिलेख[5] म सिंह सवत् का प्रयोग हुआ है। गोठ मगलोद के दधिमती माता मन्दिर के अभिलेख[6] तथा घोड से प्राप्त अभिलेख[7] मे 'गुप्त' सवत् का प्रयोग है। पश्चिमी राजस्थान मे माड क्षेत्रीय अभिलेखो मे 'भटिक' सवत् का प्रयोग हुआ है। कुछ अभिलेखो मे भटिक एव विक्रम सवत् का एक साथ प्रयोग है। वि स के साथ-साथ कई अभिलेखों म शक सवत् का उल्लेख हुआ है। लेकिन ऐसा कोई अभिलेख अभी तक प्राप्त नही हुआ है जिनम स्वतन्त्र रूप से केवल शक सवत् का ही प्रयोग हुआ हो।

विवेच्ययुगीन सांस्कृतिक इतिहास के लिए राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों का महत्व

राजस्थान की अभिलेखीय सामग्री का उपयोग अभी तक प्रमुखतया राजनीतिक इतिहास-लेखन म हुआ है। लेकिन सास्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी अभिलेखीय सामग्री का बडा महत्व है।

अन्य प्रदेशो के समान विवेच्ययुगीन राजस्थान म भी दो प्रकार के अभिलेख बहुसख्यक हैं—एक प्रतिष्ठा अभिलेख और दूसरे दानपत्र। प्रतिष्ठा-अभिलेख मन्दिर, मूर्ति, विहार, कूप, वापी, नहर, आराम आदि के निर्माण अथवा पुनर्संस्कार के समय लिखवाये जाते थे। इनम प्राय उस समय शासन कर रहे नरेश की प्रशस्ति भी रहती थी। दानपत्र या दान शासन किसी ब्राह्मण, जैन या बौद्ध भिक्षु, विहार, गच्छ, मन्दिर, पदाधिकारी या किसी अन्य सस्था अथवा व्यक्ति को भूमि दान के अवसर पर लिखवाय जाते थे।

---

1 सरकार, डी सी, स इ, पृ 90, टिप्पणी 3

2 एस पी गुप्ता तथा के एस रामचन्द्रन द्वारा सम्पादित 'द ओरिजिन ऑफ ब्राह्मी स्क्रिप्ट' म डा गोयल का लेख, पृ 39-40

3 इ आई, 36, पृ 49

4 वही, पृ 52

5 वही, 11, पृ 34

6 वही, 11, पृ 303

7 वही, 12, पृ 12

किसी व्यक्ति या घटना की स्मृति मे कभी कभी स्मारक अभिलेख भी उत्कीर्ण करवाये जाते थे। बहुत से अभिलेखो म दिवगत व्यक्ति के साथ सती होने वाली स्त्रियो का उल्लेख होता था।[1]

अभिलेखो म प्राप्त जनजीवन विषयक सूचनाओ मे बहुत-सी धर्म संबन्धी है। अभिलेखो के द्वारा स्थानीय जनता के धर्म एव धार्मिक विश्वासो, मान्यताओ का अनुमान लगाया जा सकता है। अनेक अभिलेख देवालयो से प्राप्त होते हैं।[2] इनमे देवालयो के निर्माण एव जीर्णोद्धार विषयक सूचनाएँ मिलती है। साथ ही उसमे धार्मिक क्रियाओ के सम्पादन एव विभिन्न उपास्य देवो का भी उल्लेख रहता है। अभिलेखो से धार्मिक कार्यों यथा दैनिक धूप दीप की व्यवस्था के निमित अनुदान के स्वरूप धन, ग्राम आदि प्रदान किए जाने एव दान के अवसर'[3] विधि[4] एव लाभ[5] इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अभिलेखो से हमे विभिन्न तीर्थस्थलो,[6] उत्सवो के आयोजन, व्यवस्था, विधि-विधान इत्यादि से सम्बन्धित सूचनायें भी प्राप्त होती हैं।[7] इस विषय मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि हम अभिलेखीय सामग्री द्वारा विभिन्न नरेशो की धार्मिक नीति, धार्मिक जीवन म उनकी रुचि और उसके लिए किए गए उपाय आदि की समीक्षा कर सकते हैं।

अभिलेखो का महत्व सामाजिक अवस्था का अध्ययन करने के लिये विशेषत होता है। इनसे किसी प्रदेश विशेष मे निवास करने वाली विभिन्न जातियो, उसकी शाखाओ, प्रवरो, गोत्रो आदि की सूचना प्राप्त होती है। इससे जाति प्रथा की व्यापक सरचना का समुचित मूल्याकन किया जा सकता है।[8] सती स्तम्भ अभिलेखो द्वारा स्थानीय सती प्रथा[9] एव तद्विषयक मान्यताओ तथा बहुविवाह प्रथा[10] पर प्रकाश पडता है। राजस्थान मे हमे

1 इस प्रसग में राजस्थान मे यह कहावत भी प्रचलित है कि 'नाम राखए मे गोतडा के भीतडा'' अर्थात् स्मृति को बनाये रखने का एक साधन गीत है तथा दूसरा साधन दीवारें (वे दीवारें जिन पर अभिलेख उत्कीर्ण रहत हैं)।

2 इ आई, 14, पृ 295, 2, पृ 121-22
3 वही, 22, पृ 196-98
4 वही, 11, पृ 308
5 ओझा, निबन्ध सग्रह, 2, पृ 197
6 इ आई, 26, पृ 90
7 वही, 9, पृ 62 और 158
8 वही, 5, पृ 208
9 वही, 19, पृ 8-9
10 वही, 18, पृ, 95, वही, 14, पृ 176

प्राय दिवगत व्यक्तियो की प्रतिमाए भी प्राप्त होती हैं। इनसे तत्कालीन समाज में प्रचलित वेशभूषा एव आभूषण इत्यादि का ज्ञान होता है।[1]

अभिलेख आर्थिक व्यवस्था पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकाश देते हैं। एक, इनमे ग्राम एव नगर जीवन विषयक वर्णन प्राप्त होता है जिससे हम ग्राम्य जीवन की रूपरेखा, नगर-नियोजन और नागरिक जीवन तथा वैभव का ज्ञान हो जाता है।[2] दूसरे, इनमें उद्योग, वाणिज्य और व्यापार विषयक अनेक महत्वपूर्ण सूचनाए उपलब्ध होती हैं। राजाओ द्वारा बाजारो का निर्माण[3] और तस्करो[4] एव लुटेरो से इनकी रक्षा की व्यवस्था सम्बन्धी उल्लेख भी अभिलेखो मे प्राप्त होते हैं। तीसरे, कृषका व्यापारियो आदि से वसूल किये जाने वाले विभिन्न शुल्को का विश्वसनीय उल्लेख अभिलेखो मे मिलता है।[5] चौथे, अभिलेखो से बाजारो म विक्रयार्थ आने वाली वस्तुओ का ज्ञान होता है।[6] इनके आधार पर प्रचलित उद्योगो एव शिल्पो का समुचित अनुमान लगाया जा सकता है। पाचवें, क्षेत्रीय स्तर पर वाणिज्य-सम्बन्धो की सूचना भी अभिलेखो से प्राप्त होती है। छठे, अभिलेखो स व्यापार मे प्रयुक्त होने वाले नाप और तौल[7] के मानो आदि से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध होता है। इनसे क्षेत्रीय और प्रादेशिक मुद्राओ और मुद्रा नीति का ज्ञान होता है।[8] इसके अतिरिक्त अभिलेखो से व्यापारियो तथा श्रमिको की श्रेणियो के सगठन अधिकारो एव कार्यों के विषय म भी सूचनायें मिलती हैं।[9]

वाणिज्य तथा उद्योगो और व्यवसायो के अतिरिक्त अभिलेखो मे कृषि विषयक सूचनाए भी प्राप्त होती हैं। इनके द्वारा भूस्वामित्व सिद्धान्तो पर प्रकाश पडता है,[10] तथा राजाओ सामन्तो, धनिको आदि द्वारा दान स्वरूप दी

1 बी आई, 2, पृ 69-72
2 आई ए, 29, पृ 189
3 इ आई, 9, पृ 277-79
4 वही, 11, पृ 53
5 बी आई, 2, पृ 67-68, इ आई, 10, पृ 17-20
6 वही।
7 इ आई, 14, पृ 297, वही, 10, पृ 17-20, वही, 36, पृ 49
8 नाहर, पू च, जै ले स, 2, पृ 163, वही, 1, पृ 214 और 238, इ आई, 11, पृ 43
9 इ आई, 11, पृ 43, वही, 2, पृ 119, वही, 1, पृ 162-79
10 वही, 11, पृ 181, वही, 1, पृ 154 और 162-179

जाने वाली भूमि का विवरण उपलब्ध होना है। इनमे भूमि के प्रकार, सिंचाई के साधनों भूरक्षण तथा राजस्व की भी चर्चा मिलती है।[1] खेतो मे उगाई जाने वाली विभिन्न फसलो का नामोल्लेख अभिलेखों मे यत्र-तत्र हुआ है।[2] अभिलेखो की सहायता भू-वर्गीकरण आदि समस्याओं की समीक्षा भी सरलतापूर्वक की जा सकती है।

अभिलेखो से हमे राज्य प्रशासन सम्बन्धी विश्वसनीय सूचनाए भी प्राप्त होती हैं। इनसे राजा की स्थिति, उनके अधिकार, कर्तव्य तथा स्वेच्छाचारिता और धार्मिक नीति इत्यादि पर प्रकाश मिलता है। राजाओं द्वारा नियुक्त विभिन्न राजकर्मचारियो एव अधिकारियो तथा उनके अधिकारो एव कार्यों का विवरण भी अभिलेखो मे मिलता है।[3]

पूर्व मध्यकालीन राजनीतिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता सामन्तवादी प्रथा थी। इसके उद्भव, विकास एव सगठन से सम्बन्धित सूचनाए भी अभिलेखो से प्राप्त होती है।[4] स्वय सामन्तो द्वारा उत्कीर्ण करवाये गये अभिलेखो मे यदा-कदा उनकी अभिरुचियो और उपलब्धियो का विवरण मिल जाता है।[5] अभिलेखीय सामग्री मे स्थानीय तथा सामन्त राजाओं द्वारा लगाये जाने वाले विभिन्न करो पर प्रकाश पडता है। राज्य की प्रतिरक्षा हेतु किये गये दुर्ग निर्माण जैसे प्रयत्नो की भी सूचनाए हम अभिलेखो से प्राप्त होती है।[6] अभिलेखो से सैन्य व्यवस्था पर भी प्रकाश पडता है।[7] राजाओं द्वारा जनकल्याणार्थ कूप, वापी, तडाग इत्यादि का निर्माण अभिलेखो द्वारा ज्ञात होता है। कतिपय अभिलेखो मे ग्राम शासन विषयक सूचनाए मिलती हैं।[8] इस प्रकार प्रदेश विशेष एव युग विशेष की प्रशासनिक व्यवस्था विषयक अत्यन्त प्रामाणिक सामग्री अभिलेखो से उपलब्ध होती है।

---

1 वही, 20, पृ 72, वही, 24, पृ 317
2 जे पी ए एस बी, 12, पृ 93
3 इ आई 11, पृ 70, वही, 14, पृ 182-184, बी आई, 2, पृ 67-68
4 वही, 3, पृ 266, वही 5, पृ 208, वही, 14, पृ 187, वही, 33, पृ 192
5 वही।
6 आई ए, 20, पृ 210
7 इ आई, 14, पृ 295
8 वही, 11, पृ 39

अभिलेखीय सामग्री से तत्कालीन साहित्यिक उपलब्धियो का अनुमान भी लगाया जा सकता है। विभिन्न नरेशो की साहित्यिक एव शैक्षणिक अभिरुचियो एव उपलब्धियो की सूचना अभिलेखो से मिलती है। कतिपय राजाओ की रचनाए शिलाकित रूप मे उपलब्ध होती हैं–यथा चतुर्थ विग्रहराज कृत 'हरिकेलि' नाटक एव 'ललित विग्रहराज' नाटक शिलाक्ति साहित्यिक कृतियो मे अग्रगण्य हैं।[1] इसी प्रकार प्रतिहार नरेश कक्कुक द्वारा रचित कतिपय श्लोक भी शिलाकित मिलते हैं।[2] राजाओ द्वारा आश्रय प्राप्त विद्वानो का उल्लेख अभिलेखो मे प्राय मिलता है। इन अभिलेखो मे नवसाहित्य सृजन की सूचना के अतिरिक्त परम्परागत साहित्य के अध्ययन एव सरक्षण सम्बन्धी सूचनाए भी मिलती हैं।

अभिलेखो मे यदा-कदा वास्तुकला विषयक सामग्री भी उपलब्ध होती है। इनमे विभिन्न युगो के सूत्रधारो, स्थापकों इत्यादि का उल्लेख हुआ है। देवालयो के प्रसग मे देवालय के विभिन्न अगो, मण्डप, मण्डपिका, गवाक्ष, तोरण आदि का उल्लेख किया जाता था। मन्दिरो के प्रकारो का उल्लेख भी कभी कभी अभिलेखो मे कर दिया गया है। इस प्रकार वास्तुकला से सम्बधित अनेक पारिभाषिक शब्द हमे अभिलेखो से ज्ञात हो जाते हैं।

निष्कर्षत अभिलेखो मे समसामयिक सास्कृतिक जीवन विषयक प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अभिलेखीय सामग्री के आधार पर राजस्थान की पूर्वमध्यकालीन सस्कृति के अध्ययन का एक विनम्र प्रयास है।



1. आई ए, 20, पृ 210
2. इ आई, 9, पृ. 277

प्रशासन

यद्यपि आठवी से बारहवी शताब्दी तक के युग के राजस्थान की शासन व्यवस्था पर दानपत्रो, अन्य अभिलेखो तथा साहित्यिक ग्रथो मे यत्र-तत्र प्रदत्त छिट-फुट तथ्यो से काफी प्रकाश पडता है और तदनुरुप राजस्थान की शासन व्यवस्था की रूपरेखा तैयार की जा सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध मे दो बातें स्मरणीय हैं। प्रथम, हमारे एतद्विषयक साधन सीमित हैं और अनेक राजवशो से सम्बन्धित होने के कारण विभिन्न रूप म और बिखरे हुए मिलते हैं। द्वितीय, पाच शताब्दियो के दीर्घकाल मे शासन व्यवस्था की एकरूपता सम्भव नही थी। समय के परिवर्तन के साथ शासन स्वरूप मे भी न्यूनाधिक अन्तर आना स्वाभाविक था। हमारा प्रयास शासन सम्बन्धी उन प्रवृत्तियो पर प्रकाश डालना होगा जो सामान्यतया हमारे अध्ययन के सम्पूर्ण युग को प्रभावित करती रही।

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान की शासन व्यवस्था का अध्ययन इस युग को दो खण्डो मे विभाजित करके किया जा सकता है। प्रथम साम्राज्यिक प्रतिहारकालीन व्यवस्था, जो लगभग 1000 ई तक प्रचलित रही। इस काल मे राजस्थान उत्तर भारतीय शासन व्यवस्था का ही अग रहा। द्वितीय, प्रतिहारोत्तरकालीन व्यवस्था जो लगभग 1000 से 1200 ई तक प्रचलित रही। इस काल मे यद्यपि स्थूलत प्रतिहारकालीन शासन पद्धति का प्रचलन रहा तथापि स्थानीय परिस्थितियो के प्रभाव से कही-कही और यदा-कदा शासन स्वरूप मे कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए।

राजा

भारतीय अर्थशास्त्रीय परम्परा मे राज्य के 'सप्ताङ्गो' का विवरण उपलब्ध है—(1) स्वामी (शासक), (2) अमात्य, (3) जनपद या राष्ट्र, (4) दुर्ग, (5) कोष, (6) दण्ड (सेना) एव (7) मित्र।[1] इसमे शासक को ही सर्वोच्च माना गया है। कौटिल्य ने राजा को ही सक्षिप्त राज्य कहा है।[2] हमारे अध्ययनकाल मे भी राज्य का सर्वेसर्वा राजा ही होता था। उसकी शक्ति असीमित समझी जाती थी। प्रतिहार नरेशो ने स्वय अपने को राजा, भूप, नृप व महाराज कहा है किन्तु उनके सामन्तो ने उन्हे परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि उपाधियो से सम्बोधित किया है। प्रतिहार शासक नागभट के सामन्त बप्पुक के पुत्र जज्जक की पुत्री जयावली के बुचकला से प्राप्त वि स 872 के अभिलेख मे वत्सराज को महाराजाधिराज और परमेश्वर विरुदो से सम्मानित किया गया है। इसी प्रकार

1. अर्थशास्त्र 6, 11, काणे, पी वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, 2, पृ 585
2 अर्थशास्त्र 8, 2

उसके पुत्र और उत्तराधिकारी नागभट को परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर उपाधि से विभूषित किया गया है।[1] चौलुक्य शासकों के सामन्तो ने भी अपने स्वामियो को परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर इत्यादि उपाधियो से उल्लिखित किया है। कुमारपाल चौलुक्य के सामन्त वाहडदेव के पाली के सोमनाथ मन्दिर से प्राप्त वि स 1209 के अभिलेख मे कुमारपाल को परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर विरुद दिया गया है।[2] चौलुक्य नरेश द्वितीय भीमदेव के सामन्त चाहमान मदन ब्रह्मदेव के किराडू से प्राप्त वि स 1235 के अभिलेख म द्वितीय भीमदेव को महाराजाधिराज, परमेश्वर तथा परमभट्टारक कहा गया है।[3] इसी नरेश के एक गुहिलवशी सामन्त अमृतपालदेव के वीरपुर से प्राप्त वि स 1242 के दानपत्र मे भी स्वय भीमदेव की उपाधि परमेश्वर परमभट्टारक निर्देशित है जबकि अमृतपालदेव को 'महाराजाधिराज' कहा गया है।[4] परमार शासको ने भी आरम्भ म महाराज, नृप और भूप जैसे सामान्य विरुद धारण किये थे। अधिक से अधिक उनको 'महाराजाधिराज' कहा गया है। परन्तु द्वितीय वाक्कपति के काल से 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' जैसी गरिमामयी उपाधिया धारण करने लगे।[5] गुहिल और चाहमान[6] शासक भी

---

1 इ आई, 9, पृ 199

2 नाहर, पू च, जैन लेख सग्रह, 1, पृ 205

3 आई ए, 42, पृ 42

4 ओझा निबन्ध सग्रह, 2, पृ 197

5 भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, (1970), नई दिल्ली, पृ 201-202

6 अन्य सन्दर्भो के लिए द्रष्टव्य

(1) प्रथम पृथ्वीराज का वि स 1162 का जिनमाता अभिलेख, पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1909-10, पृ 52

(2) वि स 1215 के नरहड अभिलेख, परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि का उल्लेख, अ चौ डा, पृ 203

(3) वि स 1232 का गोठ मगलोद अभिलेख, रामवल्लभ उपाधि का उल्लेख, रामवल्लभ सोमानी, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, जयपुर (1981), पृ 175

(4) वि स 1243 के रेवासा अभिलेख मे 'राजेन्द्र' उपाधि का उल्लेख, दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, द्वितीय सस्करण, पृ 107

(5) वि स 1236 के फलोदी अभिलेख म 'महाराज' उपाधि का उल्लेख, जे पी ए एस बी, 12, पृ 93

'परमेश्वर', और 'राजेन्द्र , आदि विरुदो से विख्यात थे। इस प्रकार के विरुदो से इस युग के शासकों की राजनीतिक स्थिति और सामन्तवादी व्यवस्था मे उनकी सीमित शक्ति का आभास मिलता है।

हमारे अध्ययनकाल के शासको मे देवांश मानन की प्रथा थी। प्रतिहार-वंश संस्थापक प्रथम नागभट को अभिलेखो मे साक्षात् नारायण[1] और भोज[2] तथा विनायकपाल[3] को 'आदिवराह' कहा गया है। प्रथम 'महिपाल' को 'कार्तिकेय' बताया गया है।[4] चाहमान शासको को भी स्वय विष्णु अथवा विष्णु का अंश माना गया है। चतुर्थ विग्रहराज को 'मधु नामक दैत्य के संहारक' का अंश बताया गया है।[5] द्वितीय पृथ्वीराज के लिये राम की उपाधि प्रयुक्त है।[6] इसी प्रकार तृतीय पृथ्वीराज को भी 'पृथ्वीराज विजय' में 'राम' कहा गया है।[7] उल्लेखनीय है कि यह परम्परा हमारे अध्ययनकाल के उपरान्त भी चलती रही।[8]
इन सभी विरुदो के पीछे जन नेतृत्व तथा म्लेच्छो से देश व संस्कृति की रक्षा करने के संकल्प एव सामन्ती व्यवस्था मे देवत्व अवधारणा का सहारा लेकर राजाओ द्वारा अपनी स्थिति सुरक्षित करने की भावनायें थी।[9]

1, इ आई, 18, पृ 99-114। तु एक उदयगिरि अभिलेख मे गुप्त सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त को स्वय चाप्रतिरथ (साक्षात् अप्रतिरथ अर्थात् विष्णु) कहा जाना। विष्णुसहस्रनाम मे 'अप्रतिरथ' विष्णु का एक नाम बताया गया है।
2 वही।
3 जे एन एस आई, 10, पृ 28, 1327 ई की 'द्रव्य परीक्षा' नामक पुस्तक म 'बराहमुद्रा' तथा 'विनायक मुद्रा' का उल्लेख हुआ है।
4 रा अ. ए, पृ 306
5. इ आई, 19, पृ 218
6 आई ए, 41, पृ 19
7. पृथ्वीराज विजय, 1/33, 6/35 और 47, 715, 8/10 और 60-61 तथा 9/32-33
8. जालोर के शासक कान्हडदेव को कृष्ण का अवतार और 'गोकुलनाथ' कहा गया है। कान्हडदे प्रबन्ध, 3, छद 215-220, 4, छद 219-220
9 इस काल के शासको के विरुदो का अध्ययन करते समय गीता (4, 7 तथा 8) मे भगवान् कृष्ण का वह वचन याद आ जाता है जिसमें वह कहते हैं कि जब जब धर्म की हानि होती और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब साधुओ के उद्धार पापियो के विनाश और धर्म की स्थापना करने के लिए वह स्वय पृथ्वी पर प्रकट होते है। तु गुप्त काल मे समुद्रगुप्त को प्रयाग प्रशस्ति म 'साध्वसाध्दय प्रलय हेतु' तथा 'अचिन्त्यपुरुष' कहा जाना। 'अचिन्त्य' विष्णुसहस्रनाम मे विष्णु का एक नाम है।

यद्यपि इस काल के शासकों की शक्ति सिद्धान्त अनियन्त्रित थी तथापि उन्हें अनेक सामन्तीय एवं नैतिक मर्यादाओं के अन्तर्गत शासन करना पड़ता था। अतः शासकों के लिए सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी होना सम्भव नहीं था। लोकप्रिय शासकों के नेतृत्व में प्रजा सुख और सन्तोष का अनुभव करती थी। गुहिलवंशी शीलादित्य की लोकप्रियता से प्रभावित होकर देश के विभिन्न भागों के व्यापारी वर्ग उसके राज्य में निवास करने लगे थे।[1] एक अभिलेख में शीलादित्य को पृथ्वी-विजेता, शत्रुओं को जीतने वाला, देव ब्राह्मण और गुरुजनों को आनन्द देने वाला कहा गया है।[2] 'कथाकोष' के अनुसार स्वेच्छाचारी शासकों के राज्यों में भले पुरुष निवास नहीं करते थे।[3]

राजपूत शासकों की सम्भावित स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण रखने वाली अनेक संस्थाएं थीं जिनमें मन्त्रिमण्डल, स्थानीय संस्थाएं, धर्मशास्त्रीय नियम परम्पराएं तथा जनमत प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त सबल सामन्त वर्ग का भी राज्य के प्रशासन पर पर्याप्त प्रभाव रहता था। सामन्तों की शक्ति व महत्ता का आभास उनके लिये प्रयुक्त विरुदों जैसे महाराजाधिराज परमेश्वर[4], महाराजाधिराज[5], महासामन्ताधिपति[6], महासामन्त[7], महामाण्डलिक[8], राजा[9], राजकुल[10], ठाकुर[11] और रणक इत्यादि से होता है। समसामयिक साहित्यिक

---

1. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 2, पृ. 311-24
2. आई ए, 10, पृ. 24
3. रा अ. ए, पृ 308 पर उद्धृत
4. राजौर के शासक मथनदेव ने इस विरुद को धारण किया था।
5. यह विरुद मथनदेव के पिता और सियोडनी के सामन्त धुरभट्ट और निष्कलंक ने धारण किया था। तु, सातवीं शती में नेपाल के लिच्छवि महाराजाधिराजाओं के प्रधानमन्त्री अंशुवर्मा आदि का महाराजाधिराज विरुद, गोयल, श्रीराम, प्राचीन नेपाल का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 95
6. इ. आई., 1, पृ 173
7. द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख में माधव और इन्द्रराज के लिये इस विरुद का प्रयोग है।
8. आई. ए, 41, पृ. 202
9. द्रष्टव्य, हासोट ताम्रपत्र अभिलेख,
10. महिपाल का वि. स. 974 का असनी अभिलेख। यही शब्द कालान्तर में राजस्थान में 'रावल' रूप में परिवर्तित हुआ।
11. द्र 'समराइच्चकहा' और 'कुवलयमालाकहा'।

ग्रथो मे सामन्तो की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। तत्कालीन राजनीति मे सामन्तो की महती भूमिका थी। राजा को शक्ति, भय प्रदर्शन, भेद नीति आदि विभिन्न उपायो से सामन्तो का सहयोग प्राप्त करना पडता था। सामन्तो को अपनी महत्ता का आभास रहता था। इसका पता महासामन्त इन्द्रराज चाहमान के प्रतापगढ अभिलेख से चलता है।[1] रामभद्र ने अपने सहधर्मी सामन्तो की मदद से वाहिनीपति अर्थात् सेनापति के विद्रोह को शान्त किया था।[2] महिपाल के राज्यकाल मे तृतीय इन्द्र के आक्रमण को निष्फल करने मे सामन्तो का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। मण्डोर के प्रतिहार, चाटसू के गुहिल और शाकम्भरी के चाहमान सामन्तो ने प्रतिहार साम्राज्य की सीमा वर्द्धन मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। बालादित्य के चाटसू अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रतिहार भोज के उत्तर भारतीय विजय अभियान मे गुहिल हर्षराज नामक सामन्त ने भी भाग लिया था। अभिलेख के अनुसार 'हर्षराज' ने उत्तरी दिशा के सभी राजाओ को जीत कर भक्ति पूर्वक भोजराज को घोडो की भेंट दी थी।[3] इसी प्रकार यह निर्देशित किया गया है कि गुहिल सामन्त भट्ट ने अपने अधिराज की आज्ञा से उसके किसी दक्षिणी शत्रु की सेनाओ को परास्त किया था।[4] रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि उक्त दक्षिणी सेनाए राष्ट्रकूटो की थी।[5] 'पृथ्वीराजविजय' के अनुसार प्रथम दुर्लभराज ने 'अपनी तलवार को गगा और समुद्र के संगम स्थल (गगासागर) मे स्नान कराया तथा गौड देश का भोग (विजय) किया।[6] दुर्लभराज ने यह उपलब्धि स्पष्टत: साम्राज्यिक प्रतिहारो के अधीन रह कर प्राप्त की होगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने राज्य विस्तार और देश को विदेशी आक्रमणकारियो से सुरक्षित रखने के लिए हर शासक को सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त करना पडता था। यह सहयोग उन्हें प्रचलित विधान, धर्म और देशाचार के आधार पर शासन सचालन करने पर ही प्राप्त हो सकता था।

---

1. इ आई., 14, पृ. 182-84
2 वही, 18, पृ. 99-114
3. वहीं, 12, पृ 15
4. वही, पृ. 16
5. जर्नल ऑफ दि डिपार्टमेण्ट ऑफ लैटर्स, 10, पृ 68
6. पृथ्वीराजविजय, 5/20

राजा के आदर्श गुणो की अनेक प्राचीन राजनीतिक ग्रन्थो मे विस्तृत चर्चा हुई है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति'[1] व 'मनुस्मृति'[2] के अनुसार राजा को शक्तिमान, दयालु, तपस्वी, ज्ञानी, अनुभवी लोगो पर आश्रित, अनुशासित मनवाला, सत्यवादी, वचन एव कर्म मे मृदु, वर्णाश्रम धर्म के नियमो का पालक, शास्त्रो का ज्ञाता तथा प्रजा के प्रति पितृवत् व्यवहार करने वाला होना चाहिए। शासको से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह प्रजा का रक्षण और पालन करेगा, धर्मानुसार आचरण करेगा, युद्ध मे सैन्य-सचालन करेगा, दुष्टो को दण्ड देगा, न्याय की व्यवस्था करेगा, जनोपयोगी कार्यो मे रुचि लेगा, सार्वजनिक उत्सवो मे भाग लेगा तथा सार्वजनिक जीवन को सुखद बनाने के हेतु हर प्रकार के साधन अपनायेगा। हमारे अध्ययनकाल मे भी उक्त मान्यताओं का प्रचलन था। यथा राजा मान को सद्गुण सम्पन्न, ईमानदार तथा सद्चरित्र कहा गया है।[3] आहाड के हस्तिमाता मन्दिर से उपलब्ध शुचिवर्मा के समय के खण्डित लेख मे शुचिवर्मा को मर्यादा मे रह कर कार्य करने वाला, दानी और शत्रुओ को नष्ट करने वाला कहा गया है।[4] कक्कुक के घटियाला मे प्राप्त एक अभिलेख मे कहा गया है कि वह सज्जनो के साथ रहता था। उसके अन्य गुणो मे न्यायप्रियता, जनहित भावना, दुष्टो को दण्ड देना, दीनो की रक्षा, वीरता, साहस, पुत्र स्नेह, गुरुभक्ति, कृतज्ञता आदि सम्मिलित किये गये है।[5] वि स 1028 की नाथ प्रशस्ति मे राजाओ के गुणो का उल्लेख हुआ है।[6] मेवाड का राजा नरवाहन विद्वानो का सरक्षक था। उसकी राज सभा मे बौद्धो, दिगम्बर जैनियो और शैवो मे शास्त्रार्थ का आयोजन हुआ था। परमार भोज व्याकरण, इतिहास इत्यादि अनेक शास्त्रो का ज्ञाता था।[7] वि स 1218 के कीतिपाल के नाडौल से प्राप्त एक ताम्रपत्र मे आल्हण के गुणो का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह पवित्रता, आचार-विचार और दान का निकेतन था। इसी अभिलेख मे उसके पुत्रो की प्रशसा करते हुए लिखा है कि वे श्रेष्ठ बुद्धि वाले, रूप और

---

1 याज्ञवल्क्यस्मृति 1 । 309-311
2 मनुस्मृति 7 । 32
3 कर्नल टॉड, एनाल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज ऑफ राजस्थान, 1, पृ 625-26
4 भावनगर प्राचीन शोध सग्रह, पृ 22-24
5 इ आई 9, पृ 277-79
6 भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, 2, पृ 70
7 सोमानी, रामवल्लभ, वीर भूमि चितौड, (1969), पृ 218

सुन्दरता से युक्त शस्त्र और शास्त्र मे निपुण, दानी और सुशील थे।[1]. मेनाल के दुर्ग में स्थित महल के उत्तरी द्वार के स्तम्भ पर उत्कीर्ण वि स. 1226 के एक अभिलेख के अनुसार चाहमान वशी शासक द्वितीय पृथ्वीराज सत्यनिष्ठ, मृदुभाषी, सुन्दर, धर्मपरायण, कल्याणकर, धर्मज्ञ तथा विचारशील बताया गया है।[2] आबू प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आबू का शासक धारावर्ष शस्त्र एव शास्त्रो मे प्रवीण था। उसके सद्व्यवहार तथा व्यक्तित्व से उसकी प्रजा अत्यधिक प्रभावित थी।[3] इन अभिलेखो मे राजाओ के प्राचीन व्यवस्थाकारो द्वारा निर्देशित गुणो व कर्तव्यो का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारतीय नरेशो के समान राजपूत शासक भी प्राय धर्मप्रतिपालक तथा धर्मपरायण होने का दावा करते थे। वे चाहे स्वय किसी भी धर्म के अनुयायी होते थे परन्तु अन्य धर्मावलम्बियो के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार करते थे। वि स 999 के प्रतापगढ से प्राप्त अभिलेख मे गुहिल शासक द्वितीय भर्तृपट द्वारा उसके शैव होते हुए भी सूर्य मन्दिर के लिये भूमि दान दिये जाने का उल्लेख है।[4] आहड के जैन मन्दिर की देवकुलिका के अभिलेख मे गुहिलवशी शक्तिकुमार की जैन धर्म के प्रति उदारता का उल्लेख है।[5] प्रतिहार भोज यद्यपि भगवती का उपासक था फिर भी उसने एक विष्णु-मन्दिर का निर्माण करवाया था।[6] चाहमान शासक विभिन्न देवताओ के उपासक होते हुए भी हर्षनाथ के मन्दिर मे भेंट चढाकर स्वय को धन्य समझते थे।[7] शैवधर्मावलम्बी होते हुए भी अर्णोराज ने पुष्कर मे वराह मन्दिर निर्मित करवाया था। उसने खरतरगच्छ के जैनो को मन्दिर बनाने के हेतु अजमेर मे भूमि प्रदान की थी तथा श्वेताम्बर जैन मुनि धर्मघोषसूरि को उनकी विद्वता के कारण सम्मानित किया था।[8] चतुर्थ विग्रहराज शैव होते हुए यो अन्य हिन्दू सम्प्रदायो को ही नही अपितु जैनो को भी

---

1 इ आई, 9, पृ 66-70
2 वीर विनोद, 1, पृ 389
3 इ आई,, 32, पृ 137
4 वही, 24 पृ 187
5 ओझा, गौरीशकर हीराचन्द, उदयपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ 124-133
6 इ आई, 1, पृ 186-88
7 वही, 2, पृ. 119
8 कैटलाग ऑफ द पामलीफ एम एस एस इन द पट्टन भण्डारज, पृ 395

आदर और सहायता प्रदान करता था। उसने धर्मघोषसूरि नामक जैन आचार्य के कहने से एकादशी के दिन जीव हिंसा पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया था।[1] कुमारपाल चौलुक्य के चित्तौड अभिलेख से ज्ञात होता है कि जैन धर्मानुयायी होते हुए भी उसने चित्तौड-विजय के बाद भक्तिभाव से भगवान् शिव की आराधना की थी और मन्दिर के निमित्त एक गाव दान दिया था।[2] परमार चामुण्डराज ने अपने पिता की स्मृति मे अथूर्णा के शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था और मन्दिर के परिपालन के लिए व्यापार की वस्तुओ पर कर लगाया था।[3] हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट राजा विदग्ध ने अपने गुरु वासुदेव की प्रेरणा से हस्तिकुण्डी मे जैन देवालय का निर्माण करवाया था। धर्म मे अत्यधिक तल्लीन होने के फलस्वरूप उसे ससार के प्रति विरक्ति हो गई थी।[4] धार्मिक कार्यों मे राजा सदैव बडी रुचि से भाग लेता था। जोजल्लदेव ने भगवान् लक्ष्मणस्वामी की रथ-यात्रा के उत्सव के अवसर पर सभी राज कर्मचारियो को उसमे सम्मिलित होने का आदेश दिया था।[5]

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि आलोच्य युग के राजसी जीवन मे धर्म का अत्यधिक महत्व था और सामान्यतया राजा लोग सभी धर्मों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते थे।

राजपद मुख्यतया आनुवशिक था और सामान्यतया ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी बनाने की परम्परा प्रचलित थी। इस काल मे ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध हैं जब साहसी राजकुमारो ने अपने पराक्रम से नये राज्य की स्थापना की। यथा चाहमान वशी लक्ष्मण ने स्वय नाडौल मे अपना स्वतत्र राज्य स्थापित किया था।[6] कभी-कभी पितृेच्छा अथवा अन्य कारणों से

---

1 वही, पृ 370
2 ई आई, 2, पृ 327
3 वही, 14, पृ 295
4 वही, 10, पृ 17-20
5 वही, 9, पृ 62 व 158
6 द्र (1) अ चौ डा, पृ 138-139
 (2) लुणतिगदेव का अचलेश्वर अभिलेख, इ आई, 9, पृ 79
 (3) कीर्तिपाल का नाडौल-ताम्रपत्र, वि स 1218, वही, पृ 68
 (4) सहजपाल का मण्डोर अभिलेख, आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट 1909-10, पृ 102-3

बड़े भाई के बाद छोटे भाई को राज्याधिकार मिल जाता था। प्रतिहार राजा बाउक के पश्चात् उसका छोटा भाई कक्कुक राज्याधिकारी हुआ था।[1] इसी प्रकार गुहिल शासक अम्बाप्रसाद के बाद उसका छोटा भाई शुचि वर्मा सिंहासनासीन हुआ था।[2]

भारत में वैदिक काल से ही 'प्रजापरिपालकत्व' तथा प्रजा हित राजा का महत्वपूर्ण कर्त्तव्य स्वीकार किया गया है। समय के साथ इसकी महत्ता अधिकाधिक बढ़ती गई। व्यवस्थाकारों राजनीति शास्त्रियों तथा स्मृतिकारों ने इस विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस व्यवस्था के अनुसार राजा को प्रजा हित को प्राथमिकता देनी चाहिये। कौटिल्य का कथन है कि राजा को प्रजा के सुख में अपना सुख और उसके हित में ही अपना हित समझना चाहिये (प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्) कौटिल्य के अनुसार किसी कार्य के औचित्य का आधार सम्राट की रुचि नहीं, अपितु लोक रुचि होती है। अशोक के अभिलेखों में भी इसी प्रकार का संकेत है। अशोक छठे शिलालेख (गिरनार) में लिखता है 'नास्ति हि कमता सर्वलोक हितत्पा'—राजा के लिए सर्वलोक हित से बढ़कर कोई दूसरा काम नहीं है।[3] प्रत्येक शासक सिद्धान्ततः विधवाओं, अनाथों और कमजोर वर्गों की रक्षा करता था।[4] अकाल एवं विपत्ति के समय राजकोष से प्रजा की सहायता की जाती थी।

अभिलेखों के अनुसार पूर्वमध्ययुगीन नरेश कुएं और सरोवर खुदवाते, विद्वानों को आश्रय देते, कलाकारों का सम्मान करते और मन्दिरों का निर्माण एवं प्रतिसंस्कार करवाते थे। धार्मिक अवसरों पर मन्दिरों को दान दिया करते थे। गुहिल शक्तिकुमार ने संक्रान्ति पर सूर्य मन्दिर को 14 द्रम्म प्रति वर्ष दिये जाने की आज्ञा दी थी।[5] चौलुक्य कुमारपाल के चित्तौड़ से प्राप्त अभिलेख में कहा गया है कि जब कुमारपाल समद्धीश्वर मन्दिर में गया तो भक्ति भाव से शिव की पूजा की तथा इस मन्दिर को एक गांव भेंट में दिया था।[6] बसन्तगढ़ की लाहण बावड़ी का निर्माण आबू के परमार

1 घटियाला अभिलेख, वि सं 918, इ आई, 9, पृ 279-281

2 हस्तिमाता के मन्दिर का अभिलेख, भावनगर प्राचीन शोध संग्रह, पृ 22-24

3 इ आई, 2, पृ 454

4 राजनीति प्रकाश द्वारा उद्धृत, पृ 138

5 इ आई, 39, पृ 191

6 वही, 2, पृ 327

पूर्णपाल की बहिन रानी लाहणी ने लोककल्याणार्थ किया था।[1] राजा मानमोरी ने जनहितार्थ एक सरोवर का निर्माण करवाया था।[2] चाहमान शासक अर्णोराज ने अपनी राजधानी के समीप 'आन्नासागर' नामक विशाल झील का निर्माण करवाया था।[3] परमार शासक भोज ने चित्तौड के निकट एक तालाब 'भोजासर' का निर्माण करवाया था।[4] चाहमान शासक वीसलदेव ने 'विशालसर' नामक तालाब का निर्माण करवाया था।[5] सेवाडी के शासक कटुकराज ने 'थल्लक' नामक शिल्पी को एक वार्षिक अनुदान दिया था।[6] प्रतिहार वत्सराज विद्वानो का आश्रयदाता था।[7] सारणेश्वर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गुहिल नरेश अल्लट ने वराह मन्दिर की व्यवस्था के लिए राज्य से गुजरने वाले हाथी, घोडे आदि सवारियो पर कर लगाया था।[8] इसी प्रकार अथूर्णा के शिव मन्दिर की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि मन्दिर के परिपालन के लिए कुछ व्यापारिक वस्तुओ पर कर लगाया गया था।[9]

राजाओ को कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका और देश की सुरक्षा सम्बन्धी काय करने होते थे। वे स्वय राज्य के समस्त उच्च कर्मचारी वर्ग की, जिनमें मत्री और विभागाध्यक्ष भी सम्मिलित थे, नियुक्ति करते थे। राजा यदि किसी भी अधिकारी को अवाच्छनीय समझते थे तो उसे सिद्धान्तत पदच्युत कर सकते थे। वे प्राय महत्वपूर्ण पदो पर अपने विश्वासपात्र व्यक्तियो को नियुक्त करते थे। यद्यपि वे मत्रियो से महत्वपूर्ण विषयो पर मन्त्रणा करते थे तथापि वे उनकी मन्त्रणानुसार कार्य करने के लिए सिद्धान्तत बाध्य नही थे। चाहमान राजा चतुर्थ विग्रहराज के मुख्यमत्री श्रीधर ने तुर्क आक्रमणकारी[10] को कुछ धन देकर सन्तुष्ट करने का प्रस्ताव किया था, किन्तु राजा ने इसे अस्वीकार कर दिया था।[11]

---

1 वही, 9, पृ 12
2 टॉड, एनाल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज, 1, पृ 625-626
3 पृथ्वीराजविजय, 6, श्लोक 21-25
4 स्मिथ, वी, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ 411
5 पृथ्वीराज रासो, आदि पर्व श्लोक 364
6 सेवाडी अभिलेख, वि स 1172, इ आई, 11, पृ 30
7 वि स 1013 की ओसिया मन्दिर प्रशस्ति, नाहर, पूर्णचन्द, जैन लेख सग्रह, कलकत्ता, (1918), 1, पृ 192
8 बी आई, 2, पृ 67-68
9 इ आई, 14, पृ 295
10 सम्भवत वह गजनी का अमीर खुसरूशाह था।
11 ललितविग्रहराज, आई ए, 20, पृ. 209

युद्ध के समय राजा सेना का नेतृत्व और सचालन करते थे। वे प्राय स्वय भी अश्वारोहण तथा हाथियो पर बैठ कर लडाई मे भाग लेते थे। वे धनुविद्या तथा खड्ग विद्या आदि मे प्रवीण होते थे।[1] मेवाड के गुहिल शासक शक्तिकुमार को तीनो शक्तियो—मत्र शक्ति, उत्साह शक्ति एव प्रभु शक्ति—से सम्पन्न कहा गया है।[2] परमार राजवश की आबू शाखा का शासक धारा वर्ष धनुविद्या म निपुणता के लिए विख्यात था। एक अवसर पर उसने सफलतापूर्वक एक ही बाण के प्रहार से तीन भैसो को भेद दिया था।[3] इसका उत्सव मनाने के लिए आबू पर्वत पर अचलेश्वर मन्दिर के बाहर मन्दाकिनी सागर के किनारे उसकी एक मूर्ति बनवाई गई जिसमे उसके हाथ मे एक धनुष और उसके सामने फटे पेट वाले तीन भैसे खडे दिखाये गये।[4] राजा लोग रणनीति के सम्बन्ध मे अपने सेनानायको से भी विचार-विमर्श किया करते थे।

युवराज

राज्य प्रशासन मे राजा के पश्चात् 'युवराज' या 'महाराजकुमार' का स्थान होता था।[5] वह राजा का उत्तराधिकारी होता था। सामान्यत राजा के जीवनकाल मे ही ज्येष्ठ पुत्र को युवराज घोषित कर दिया जाता था।[6] युवराज युद्ध व शाति के समय राजा की सहायता करता था।[7] इससे उसकी योग्यता का भी पता चल जाता था और उसे शासन की शिक्षा तथा राज्य के कार्य का अनुभव भी हो जाता था। हमारे अध्ययनकाल मे राजस्थान के दानशासनो तथा प्रशस्तियो मे युवराज के अधिकारो एव कर्तव्यो का विशेष उल्लेख नही मिलता। चाहमान शासक केल्हणदेव अपने पिता के जीवनकाल म युवराज था और उसे जागीर देने और अन्य अनुदान देने

1 वि स 1136 की अथूणा प्रशस्ति, इ आई, 14, पृ 295
2 वि स 1034 का शक्तिकुमार का अभिलेख, वही, 39, पृ 191
3 आई ए, 45, पृ 78
4 मुनि जिनविजय, द होली आबू, पृ 165। यह मूर्ति अब भी विद्यमान है।
5 कल्याणपुर के गुहिल शासको द्वारा दिये गये दानपत्रो मे राजा के बाद युवराज का उल्लेख किया है। इ आई, 35, पृ 56, 34, पृ 170 और 173
6 काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ 629। गुप्त युग मे समुद्रगुप्त एव द्वितीय चन्द्रगुप्त अपने अपने पिता द्वारा चुने गए थे।
7 इ आई, 11, पृ 43-46

का अधिकार था ।[1] 'तिलकमन्जरी' म युवराज बनने की आयु 16 वर्ष बताई गई है ।[2] धर्मशास्त्रो म यह आयु 25 वर्ष की निर्धारित की गई है । कभी कभी पुत्र के अभाव मे अनुज को भी युवराज बना दिया जाता था । गुहिल राजा अम्बाप्रसाद की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई युवराज शुचिवर्मा मेवाड के सिंहासन पर बैठा था ।[3] सम्भवत अम्बाप्रसाद के कोई पुत्र नही था । चन्द्रावती के परमार शासक धारावर्ष के काल म उसका छोटा भाई प्रहलाद युवराज पद पर कार्य कर रहा था ।[4] चाहमाना के अनेक अभिलेखा मे युवराज और राजा के नाम साथ साथ दिये गये है ।[5] यदि राजा किसी बीमारी अथवा किसी अन्य कारण से स्वय को प्रशासन के लिए सक्षम नही समझता था तो वह युवराज के पक्ष मे सिंहासन परित्याग कर देता था । शाकम्भरी का अजयराज अर्णोराज को राज्य भार सौंप कर स्वय पुष्कर के जगलो मे चला गया था ।[6] बाप्पा का राजसिंहासन परित्याग कर सन्यास लेना और खुम्माण को राज्य कार्य सुपुर्द करना सुप्रसिद्ध है ।[7] बाउक के वि स 894 के जोधपुर मे प्राप्त अभिलेख[8] से ज्ञात होता है कि प्रतिहार तात ने अपने भाई भोज के पक्ष म राज्य का परित्याग किया था । इसी लेख म भिल्लादित्य द्वारा अपने पुत्र को राज्य देकर गगा द्वार जाकर अनशन व्रत लेकर स्वर्गलोक प्राप्त किये जाने का उल्लेख है । वि स 1053 के राष्ट्रकूट शासक धवल के अभिलेख[9] मे कहा गया है कि वृद्धावस्था मे उसने सासारिक भोगा का परित्याग करके बलप्रसाद को राजा बना दिया था । 'नवसाहसाक-

1 राजपुत्र कीर्तिपाल का नाडौल अभिलेख, इ आई , 9, पृ 66
2 तिलकमन्जरी, पृ 65 प्रतिपाल भाटिया द्वारा द परमारज के पृ 207 पर उद्धृत ।
3 हस्तिमाता मन्दिर अभिलेख, 'वीर विनोद , 1, पृ 381
4 भीमदेव द्वितीय का वि स 1265 का आबू का अभिलेख, हिस्टोरिकल इन्स्क्रिपसनस् आफ गुजरात, 2, स 161
5 इ आई , 11, पृ 28 व 33
6 चाहमान प्रशस्ति अ चौ डा , पृ 203-204 । इस घटना का समर्थन पृथ्वीराज विजय' (पचम, 184) से होता है जिसमे कहा गया है कि अजयराज ने स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से सासारिक जीवन छोड दिया था ।
7 एकलिंगमहात्म्य, 20, 21-22
8 इ आई , 18 पृ 95
9 वही, 10, पृ 17-20

चरित' से ज्ञात होता है कि सीयक ने अपना अन्तिम समय तपस्या मे बिताने का निश्चय करके स्वय ही वाक्पति मुन्ज को अभिषिक्त कर दिया था।[1]

युवराज के अतिरिक्त अन्य राजकुमार भी शासन कार्य म सहायता देते थे। आल्हण ने अपने दो पुत्रो केल्हण और गजसिंह को राज्य मे महत्त्वपूर्ण पद दिये थे।[2] केल्हण को बाद मे युवराज घोषित किया गया था।[3] राजकुमारो को अपनी जीविका के लिए जागीरें दी जाती थी।[4] कभी-कभी उन्हे प्रान्तो के शासक के रूप मे भी नियुक्त किया जाता था। मण्डोर पर रत्नपाल सहजपाल और गजसिंह का शासन रहा। वे चामुण्डराज के पुत्र व निकट के सम्बन्धी थे।[5] 12 वी शताब्दी मे आल्हण के काल मे बाडमेर का शासक उसका पुत्र कुमारसिंह था।[6]

महादेवी

राज्य मे 'महादेवी या 'महारानी' का पद सम्मानजनक था। प्रतिहार शासको की मुहरो पर उनकी महादेवियो के नाम अंकित रहते थे। अन्त पुर मे महादेवी को विशेष अधिकार प्राप्त थे। प्रधान रानी को महारानी कहते थे और उसकी प्रतिष्ठा सभी रानिया से ऊची होती थी। कतिपय जैन साहित्यिक ग्रन्थो मे राजमहिषी या पटरानी शब्द का प्रयोग हुआ है। गुलाबचन्द रायचौधरी के अनुसार इसकी पुष्टि अभिलेखीय स्रोत से नही होती।[7] परन्तु उनकी धारणा अशुद्ध है। अभिलेखो मे इसका उल्लेख प्राप्त होता है। यथा बाउक के जोधपुर से प्राप्त वि स 894 के अभिलेख मे भाटी वश की महाराज्ञी पद्मिनी का उल्लेख हुआ है।[8] परमार यशोधवल के वि स 1202 के सिरोही राज्य से प्राप्त अभिलेख म पटरानी सौभाग्यदेवी का उल्लेख हुआ है।[9] अन्य रानियो का पद क्रमानुसार निर्धारित होता था परन्तु राजा अपनी इच्छानुसार यह क्रम बदल सकता था। कतिपय महारानिया अत्यन्त प्रभावशाली थी। चाहमान अजयराज की रानी सोमलादेवी का नाम

1 नवसाहसाक चरित, 11 वा, 86
2 वि स 1209 का किराडू अभिलेख, इ आई, 11, पृ 44
3 कीर्तिपाल का वि स 1218 को नाडौल ताम्रपत्र, इ आई, 9, पृ 68
4 नाहर, पू च, जैन लेख सग्रह 1, पृ 128
5 बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ राजस्थान, पृ 101
6 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1909, पृ 52
7 चौधरी, गुलाबचन्द्र, पालिटिकल हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ 339
8 इ आई, 19, पृ 95
9 आई ए, 56, पृ 12

सिक्कों पर अंकित किया गया था।[1] धारावर्ष की रानी शृंगारदेवी ने एक बावडी का निर्माण कराया था।[2] केल्हणदेव की रानी जाल्हणदेवी ने अनेक जैन मन्दिरों को अनुदान दिया था। जालौर से प्राप्त वि स 1174 के एक अभिलेख मे परमार वीसल की रानी मेलरदेवी द्वारा एक मन्दिर को सुवर्ण कलश चढाये जाने का उल्लेख है।[3] गुहिल राजा अल्लट की रानी हरियादेवी ने हर्षपुर नामक गाव बसाया था।[4] यह रानी एक हूण राजा की पुत्री थी। अल्लट की माता रानी महालक्ष्मी वराह मन्दिर की व्यवस्था समिति की सदस्या थी।[5] शिलालेखो मे रानियो के नाम दान और अनुदान देने के सम्बन्ध म प्राय प्राप्त होते हैं।[6] किसी रानी के विधवा हो जाने पर यदि उसके पुत्र की आयु कम होती थी तो रानी कभी कभी राजकार्य का भी सचालन करती थी। सोमेश्वर की रानी कर्पूरदेवी ने अपने पुत्र तृतीय पृथ्वीराज के अल्पवयस्क होने के कारण शासन भार सभाला था।[7] चाहमान चन्दनराज की रानी रुद्राणी अथवा आत्मप्रभा का राज्य में प्रभाव और सम्मान था।[8] सम्भवत राज्य के महत्वपूर्ण विषयो पर भी वह अपनी सलाह दिया करती थी।

राज सभा और केन्द्रीय प्रशासन

पूर्वमध्यकाल म राजदरबार सामान्यत अत्यन्त भव्य होते थे। परवर्ती मुगलो के दीवाने आम और दीवाने खास के समान वहा बहिर-उपस्थान या महास्थान और आभ्यान्तरोपस्थान बने होते थे। बहिर उपस्थान प्रभावशाली जनो से मिलने एव न्याय करने का स्थान था। महास्थान की बैठक मे वे सभी लोग उपस्थित होते थे जिनका राजा व राज्य के लिए महत्व था। मन्त्रिमण्डल के सदस्य, सेनापति, महाप्रतिहार, महामण्डलेश्वर महासामन्त, महापुरोहित, धर्मस्थ, विद्वान् ब्राह्मण कवि, वन्दकजन

---

1 इ आई, 26, पृ 84-112
2 जयन्तविजयजी, अर्बुदाचल प्रदक्षिणा-जैन लेख सदोह, पृ 108-09
3 आई ए,, 42, पृ 41
4 शक्तिकुमार का आहड वि स 1034 का अभिलेख, आई ए,, 39, पृ 191
5 वि स 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति, आई, ए, 58, पृ 161
6 अ चौ डा, पृ 196
7 पृथ्वीराजविजय, 9, 1-34
8 वही, श्लोक 31 और 37

(भाट-चारण), भाषाविद्, वैद्य, नाट्यशास्त्रज्ञ और ज्योतिषी तथा धातु-विज्ञान, शकुनशास्त्र और स्वप्न शास्त्र के पण्डित तथा गणिकायें आदि यहा आमन्त्रित किये जाते थे। वे उन सभी विषयो पर अपनी सम्मति प्रकट करते थे जिनका सम्बन्ध राज्य व प्रजा से होता था। यहा उन विषयो पर चर्चा होती थी जिनको गोपनीय रखने की आवश्यकता नही समझी जाती थी।[1] 'खरतरगच्छ पट्टावली' मे तृतीय पृथ्वीराज के महास्थान का विस्तृत विवरण मिलता है। उसका फर्श चमकीली नीली मणियो से बना था। पुष्पो के पराग से इसका *प्राङगणसुगन्धित रहता था।* चादनी के नील श्यामल रेशमी उल्लोचो से लटकती मोतियो की लडिया ऐसी प्रतीत होती थीं मानो नीले बादलो से लगातार जल धारायें बह रही हो। कही सुन्दर व नूतन वस्त्र तथा आभूषणयुक्त गणिकाए राजसभा की शोभा बढाती थी तो कही गायक अपने मधुर कण्ठ से सगीत की अमृतधारा प्रवाहित करते थे। कही नीति विशारद और कुशाग्र बुद्धि वाले सचिव आचार और अनाचार की चर्चा करते थे तो कही चारण और भाट सामन्तो के शौर्य तथा औदार्य के गुण गाते थे।[2] हमारे अध्ययनकाल के कुछ समय बाद के जालोर के चाहमान राजदरबार का विवरण पद्मनाभ ने अपने ग्रन्थ 'कान्हडदे-प्रबन्ध' मे दिया है[3]

आभ्यन्तरोपस्थान मे राजा कतिपय विशिष्ट मन्त्रियो से मन्त्रणा किया करते थे। यहा रानी, राजकुमार, मित्र और राजा के निकट के सम्बन्धी भी राजनीतिक विषयो पर अपनी अपनी राय देते थे। धार्मिक विषयो पर राजा पण्डितो, कवियो और पुरोहितो से विमर्श किया करते थे। दरबार की व्यवस्था को नियमन करने मे नायक पदाधिकारी की महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी।[4]

जैन मुनि महेश्वरसूरि, जिसे तत्कालीन शासन सम्बन्धी प्रचुर जानकारी थी, हमे सूचित करता है कि शासन का सचालन वस्तुत मन्त्रिवर्ग ही करता था। राज्य के सभी उच्च पदाधिकारी मन्त्रियो से आदेश प्राप्त करते थे। राजा नीति विशारद और कुशाग्रबुद्धि मन्त्रियो द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करते थे।[5] प्राचीन राजनीति मे श्रेष्ठ एव कर्त्तव्यनिष्ठ मन्त्री राजा

---

1 रा अ्र ए, पृ 316
2 शर्मा, चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, जयपुर, (1972), पृ 47
3 कान्हडदेप्रबन्ध, अ चौ डा मे उद्धृत, पृ 224
4 'ललितविग्रहराज', आई ए, 20, पृ 201, पृथ्वीराजविजय, 11, पृ 6-7
5. रा अ्र ए, पृ 316

के न केवल मित्र वरन गुरु माने गये है।[1] किन्तु राजा मन्त्रियो की सलाह मानने के लिए बाध्य नही होते थे। मन्त्रियो व उच्च पदाधिकारियो के पद साधारणत वशानुगत होते थे।[2] उदाहरणार्थ गुहिल शासको के काल मे मेवाड मे मयूर,[3] उसका पुत्र श्रीपति[4] तथा श्रीपति का पुत्र मत्तट[5] तीनो अक्षपटलिक के पद पर वशानुगत रूपेण रहे थे। वि स. 1201 के पाली से प्राप्त एक जैन अभिलेख मे महामात्य आनन्द तथा उसके पुत्र महामात्य पृथ्वीपाल का उल्लेख हुआ है।[6]

मन्त्रियो की सख्या के विषय मे 'स्मृतिकार' एक मत नही है। कौटिल्य लिखता है कि मन्त्रियो की नियुक्ति आवश्यकतानुसार की जानी चाहिये।[7] कामन्दक[8] के अनुसार 12 मन्त्री होने चाहिये जबकि बार्हस्पत्यो और औशनसो ने मन्त्रियो की सख्या क्रमशः 13 और 20 निश्चित की है। विचाराधीन काल के अभिलेखो मे मन्त्रियो की सख्या का उल्लेख नही मिलता।

महामन्त्री या महामात्य

राज्य मे महामन्त्री अथवा महामात्य का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। राजा स्वय उसका आदर करते थे। राज्य के सभी मन्त्री, सामन्त और उच्चपदाधिकारी उसे सम्मानपूर्वक 'महामन्त्री' कह कर अभिवादन करते थे। 'कुवलयमाला' के अनुसार महामन्त्री का पद वशानुगत था।[9] जैन अभिलेखो तथा जैन ग्रन्थो की पुष्पिकाओ से ज्ञात होता है कि राज्य शासन का

---

1 कामन्दक 3 31, 44-45

2 विचाराधीन काल से पूर्व भी वशपरम्परा से चले आये हुए मन्त्रियो तथा उच्च पदाधिकारियो के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के रचयिता महादण्डनायक हरिषेण का पिता ध्रुवभूति महादण्डनायक था। द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरि गुहा अभिलेख मे वीरसेन को 'अन्वयप्राप्तसचिव' कहा गया है।

3. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ 124-133, आई ए, 58, पृ 162

4 बी आई, 2, पृ 70

5 सैसिल बैंडाल, जर्नी इन नेपाल, पृ 82

6 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1907-08, पृ 45

7 काणे, पी वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, 2, पृ 624

8 कामन्दक, 11/67-68

9 कुवलयमालाकहा, पृ 32

सम्पूर्ण कार्य महामन्त्री के अधीन रहता था।[1] वह राजकीय मुद्रा का प्रयोग करता था। उसका सभी विभागो, विशेपकर राजस्व विभाग पर नियन्त्रण रहता था।[2] चतुर्थ विग्रहराज के महामन्त्री श्रीधर और राजपुत्र सलक्षणपाल के नाम क्रमश 'ललितविग्रहराज' नाटक और वि स 1220 के शिवालिक स्तम्भ अभिलेख से ज्ञात है।[3] अल्हण के राज्यकाल मे नाडोल मे लक्ष्मीधर महामात्य पद पर आसीन था (वि स 1218)।[4] केल्हण के शासनकाल (वि स 1249) मे बालण महामात्य के पद पर नियुक्त था।[5] जालौर के इतिहास मे यशोवीर और जेता देवडा महामन्त्रियो के रूप मे प्रसिद्ध हैं।[6] प्रतापसिह के वि स 1213 के नाडोल ताम्रपत्र मे श्री कुमारपालदेव के महामात्य वाहडदेव का उल्लेख है।[7] तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के महामन्त्री कदम्बवास का उल्लेख पृथ्वीराजविजय[8] तथा 'खरतरगच्छपट्टावली' म हुआ है। 'खरतरगच्छपट्टावली म उसे 'मण्डलेश्वर' और 'सर्वाधिकारी' कहा गया है।[9] सम्भवत वेतन के बदले मे या उसके उच्च पद की गरिमा बढाने हेतु उसे बहुत बडी जागीर प्रदान की गई थी। सभी सैन्य सम्बन्धी कार्य उसकी देख रेख म सम्पन्न होते थे। उसकी सेवा मे एक हजार राजपूत घुडसवार सदैव उपस्थित रहते थे। उसे एक स्थान पर 'सचिव' भी कहा गया है।[10] तृतीय पृथ्वीराज के काल मे रामदेव का भी मन्त्री होना प्रमाणित है। जैन ग्रथा से ज्ञात होता है कि उसने जैन सघ के सचालको को एक सन्देश प्रसारित कर अनुरोध किया था कि वे जैन मूर्तियो को रेत के टीलो म छिपाकर रखें जिससे धर्मान्ध व्यक्तियो से उनकी रक्षा की जा सके।[11]

---

1 एस जे जी एम, 18, पृ 103, 106, 109, 110 आदि।
2 श्रिकरण, व्ययकरण, मण्डपिका-करण और कोस्तिक मुख्य विभाग थे। विस्तृत वर्णन के लिए दे, लेख पद्धति (गायकवाड सिरीज)।
3 (क) ललितविग्रहराज, आई ए 20, पृ 201
(ख) वि स 1220 का शिवालिक स्तम्भ अभिलेख, आई ए, 19, पृ 218
4 इ आई, 9 पृ 64
5 नाहर, जैन लेख सग्रह, 1, पृ 265
6 अ चौ डा, पृ 182-83
7 आई ए, 41, पृ 202-03
8 पृथ्वीराजविजय, 9, 36-44
9 खरतरगच्छपट्टावली, पृ 25-33
10 जोनराज ने पृथ्वीराजविजय, 9, श्लोक 36-37 को टीका करते समय उसे सचिव भी कहा है।
11 कनयनयनिय महावीर प्रतिमाकल्प, सोमानी द्वारा उद्धृत पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, पृ 89

सान्धिविग्रहिक

सान्धिविग्रहिक शांति और युद्ध का मन्त्री होता था। गुहिल शासक अल्लट का सान्धिविग्रहिक दुर्लभराज था।[1] कल्याणपुर के गुहिल शासको द्वारा दिये गये दानपत्रो में सान्धिविग्रहिक का उल्लेख मिलता है।[2] वि स 1209 के किराडू अभिलेख का रचयिता सान्धिविग्रहिक ठाकुर खेलादित्य था।[3] पृथ्वीराज के काल मे सोढ का पुत्र वामन सान्धिविग्रहिक था।[4] वि स 1277 के जगत अभिलेख मे सान्धिविग्रहिक विल्हण का उल्लेख है। जिसने रणींजा नामक गाव एक मन्दिर को अर्पित किया था।[5] अर्जुनवर्मा के सान्धिविग्रहिक बिलण और राजसलक्षण थे।[6] परमार अभिलेखो से ज्ञात होता है कि परमार सामन्त भी अपने-अपने सान्धिविग्रहिको की नियुक्ति करते। यथा योगेश्वर को यशोवर्मा का सान्धिविग्रहिक बताया गया है।[7] वागड के सामन्त शासक विजयराज का सान्धिविग्रहिक वामन था।[8] सान्धिविग्रहिक से दौत्यकला मे प्रवीण तथा लोक व्यवहार मे कुशल होने की अपेक्षा की जाती थी। 'यशस्तिलकचम्पू' म सान्धिविग्रहिक के गुणो का वणन है। किसी व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त करते समय यह ध्यान रखा जाता था कि वह अध्ययनशील, कुशल लेखक, भाषाविद् और विभिन्न लिपियो का ज्ञाता हो, विपमतम परिस्थितियों म भी विचलित न होता हो तथा सभी प्रकार की राजनीतिक गुत्थियो को सुलझाने मे सक्षम हो।[9] महिपाल के राज्यकाल म हुडाला दानपत्र सान्धिविग्रहिक महिन्दक ने तैयार किया था।[10] सान्धिविग्रहिको को विशेप प्रयोजन से विदेशी शासको, अधीनस्थ शासको और सामन्तों के पास भी भेजा जाता था।[11]

---

1 आई ए, 58, पृ 161
2 इ आई, 34, पृ 170-73
3 वही, 12, पृ 44। खेलादित्य का नाम ओझा दान पत्र सख्या दो मे भी मिलता है (अ चौ डा, पृ 213)
4 आई एच क्यू, 16, स 3, पृ 569-70
5 ए आर आर एम, अजमेर, 1914-15 पृ 3
6 ज ए एस बी, 5, पृ 278
7 इ आई, 19, पृ 73, वही, 2, पृ 44-45
8 वही, 21, पृ 54
9 यशस्तिलकचम्पू, पृ 740
10 एच आई औ, 3, स 236
11 रा प्र ए, पृ 318 पाद टिप्पणी, 2

महादण्डनायक अथवा महासेनापति

पूर्वमध्यकाल मे महादण्डनायक या महासेनापति का पद महत्वपूर्ण था। राजा महासेनापति से सभी सैन्य सम्बन्धी विषयो पर मन्त्रणा किया करते थे। समसामयिक साहित्यिक ग्रथो म चाहमान शासको के अनेक सेनापतियो के नाम मिलते हैं। चतुर्थ विग्रहराज का सेनापति सिंहबल था।[1] अल्पवयस्क तृतीय पृथ्वीराज के काल मे सेनापति के पद का भार सम्भवत भुवनैकमल्ल ने सम्भाला था।[2] तत्पश्चात् इस पद पर स्कन्द का आसीन होना ज्ञात है।[3] साधनिक[4] और दुस्माधय[5] या दुस्माधनिक[6] (अश्वपति) तथा बलाधिप[7] (कस्बो के सेनाधिकारी) सीधे सेनापति के अधीन कार्य करते थे। सैन्य प्रशासन सचालन हेतु राजधानी मे एक अधिकरण अथवा कार्यालय था जिसे बलाधिकरण कहते थे।[8] यह विभाग राजा और सेनापति के निर्देशन मे कार्य करता था। सैनिक प्रशासन के अन्तर्गत इन पदाधिकारियो के कर्त्तव्यो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

अक्षपटलिक

इस पदाधिकारी का प्रमुख कार्य राज्य के आय-व्यय का विवरण रखना था। इस विषय मे भोज के सागरताल अभिलेख से कुछ सकेत मिलता है।[9] इसे राज्य का सर्वोच्च लेखाधिकारी कहा जा सकता है। लक्ष्मीधर के अनुसार उसे राज्य की आय, व्यय तथा उपज सम्बन्धी सभी जानकारी होती थी।[10]

1 अ चौ डा, पृ 69, पाद टिप्पणी, 33
2. पृथ्वीराजविजय, 9, पृ 86-88
3 द्र विरुद्धविधिविध्वश
4 राजस्थान मे कालान्तर मे इसे साहणी कहने लगे थ।
5 इ आई, 2, पृ 119
6 वही, 11, पृ. 308
7 सेवाडी से प्राप्त वि स 1172 के अभिलेख मे यशोदेव बलाधिप का उल्लेख हुआ है। वह नगर व्यवस्था म पूर्णत निष्पक्षता से कार्य करता था। उसे स्थानीय नागरिका और राज्य दोनो का विश्वास प्राप्त था। उल्लेखनीय है कि यह अभिलेख सेनापति की विशेषताओ पर प्रकाश डालता है जो इस पदाधिकारी की नियुक्ति के लिए आवश्यक प्रतीत होती है। इ आई, 11, पृ 30
8 अ चौ डा, पृ 225
9 इ आई 18, पृ 99-114
10 दे रा अ ए, पृ 319, पाद टिप्पणी, स 2

वह अभिलेखागार का भी सर्वोच्च अधिकारी होता था और जागीरें तथा दानपत्रों की व्यवस्था करता था।[1] मेवाड के शासक अल्लट के मयूर और समुद्र नामक दो अक्षपटलिक थे।[2] नरवाहन के काल मे मयूर का पुत्र श्रीपति[3] और शक्तिकुमार के समय श्रीपति का पुत्र मत्तट इस पद पर नियुक्त किये गये थे।[4]

भाण्डागारिक

समसामयिक ग्रथो मे भाण्डागारिको को कोष और आभूषणो से सबधित कार्य करने वाला बताया गया है। 'समराइच्चकहा' मे इनके सम्बन्ध मे विवरण मिलता है। इस ग्रथ मे छैरलभाण्डागारिक पदाधिकारी का भी उल्लेख हुआ है।[5] वह राजकीय आभूषणो के भण्डार का पदाधिकारी होता था। दशरथ शर्मा ने भाण्डागारिको की तुलना कौटिल्य 'अर्थशास्त्र मे निर्दिष्ट सनिधाताओ से की है।[6] नाडोल की चाहमान शाखा के सस्थापक लक्ष्मण ने अपनी वैश्य स्त्री से उत्पन्न पुत्रो को राजकीय भण्डारो को सम्भालने का काम दिया था। वे भाण्डागारिक कहलाते थे।[7]

महाप्रतिहार या दौवारिक[8]

महाप्रतिहार सदैव राजा के निकट रहने वाला तथा राजसभा का सर्वोच्च पदाधिकारी था। वह सभी दरबारियो से अनुशासित रहने की अपेक्षा करता था। बडे-बडे सामन्त भी अपने स्वामी के महाप्रतिहार बनने के लिए इच्छुक रहते थे। सियोडनी का उन्दभट्ट जो महासामन्ताधिपति था, महाप्रतिहार पद पर नियुक्त था।[9] वसन्तगढ से प्राप्त वि स 682 के एक

1 तिलकमन्जरी, पृ 84
2 आई ए, 58, पृ 161
3 बी आई, 2, पृ 70
4 जर्नी इन नेपाल, पृ 82
5 समराइच्चकहा, पृ 89, 171, 198
6 अ चौ हा, पृ 227, 'हम्मीरमहाकाव्य' से पता चलता है कि जाहड खाद्यान्न और कोष से सम्बन्धित था।
7 'भाण्डारिक' शब्द से 'भण्डारी' बना है। भण्डारी अब वैश्य वर्ण मे परिगणित है। वे परम्परा से राजकीय खजाने तथा रसद से सम्बन्धित रहे हैं। ('नैणसी री ख्यात', 1, पृ 152, पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ 101-102)
8 तिलकमन्जरी, पृ 58, इ आई, 11, पृ 39
9 इ आई, 1, पृ 173

अभिलेख में प्रतिहार पदाधिकारी मोटक का उल्लेख है।[1] 'तिलकमन्जरी' में महाप्रतिहारों के कर्त्तव्यों पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है।[2]

धर्मस्थ तथा पुरोहित

'धर्मस्थ' न्याय विभाग का उच्चाधिकारी होता था। वह राजा को न्याय करने में सहयोग देता था। उसका मुख्य कार्य यह देखना था कि किसी के साथ अन्याय न हो। आध्यात्मिक और धार्मिक मामलों में राजा प्रायः महापुरोहित से भी परामर्श करता था। उसके लिए कहीं 'व्यास' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। हमारे अध्ययनकाल के तुरन्त बाद रचित 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'कान्हडदेप्रबन्ध' में क्रमशः पुरोहित विश्वरूप और व्यास सोमचन्द्र के नाम आते हैं।[3] तिलकमन्जरी' में महापुरोहित या पुरोहित का उल्लेख हुआ है। महापुरोहित ब्राह्मण विद्यार्थियों के अध्ययन व्यवस्था का निरीक्षण भी किया करता था। हम्मीरकालीन रणथम्भोर में पुरोहित के स्थान पर पौराणिक नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है।[4]

भोजदेव के वराह ताम्रपत्र[5] में 'व्यवहारी' नामक पदाधिकारी का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः वह न्याय विभाग का पदाधिकारी था और सभी विषयों के कानूनी दृष्टिकोण का विश्लेषण किया करता था। दौलतपुरा दानपत्र को पुनरावर्तित के पूर्व उसकी व्यवहारी द्वारा जाँच किये जाने का उल्लेख है।[6]

राजदरबार से सम्बन्धित अन्य अनेक पदाधिकारी होते थे। इनमें महावैद्य या भिषगाधिराज, नैमतिक (ज्योतिषी), बन्दी पुत्र (भाट) और अन्तर्वंशिक (अन्तःपुर का पदाधिकारी) विशेषतः उल्लेखनीय हैं। गुप्त संवत् 407 के घोड अभिलेख में गियक वैद्य का उल्लेख है।[7] सारणेश्वर प्रशस्ति में भिषगाधिराज रुद्रादित्य का नामोल्लेख है।[8] सारणेश्वर प्रशस्ति में नाग नामक बन्दी पुत्र का उल्लेख हुआ है।[9]

---

1 वही, 9, पृ 191
2 तिलकमन्जरी पृ 57-58
3 *कान्हडदेप्रबन्ध 4, श्लोक 139*
4 इ आई, 19, पृ 32
5 वही पृ 15-19
6 वही, 5 पृ 229
7 वही, 12, पृ 12
8 वी आई, पृ 67
9 वही

अभिलेखो मे यत्र-तत्र नियुक्तक, अनियुक्तक तथा गमागमिक जैसे पदाधिकारियो के नाम भी मिलते हैं। मथनदेव के वि स. 1016 के राजौर से प्राप्त अभिलेख मे नियुक्तक का उल्लेख है।[1] किन्तु इसमे इस पदाधिकारी के कर्त्तव्यो पर प्रकाश नही पडता। 'उपमितिभवप्रपचकथा' मे महानसन्नियुक्तक को राजकीय पाकशाला का पदाधिकारी बताया गया है।[2] इसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नियुक्तक विभिन्न विभागो के अध्यक्ष होते थे। इस ग्रथ मे अनियुक्तक का उल्लेख भी है।[3] सम्भवत यह पदाधिकारी किसी मन्त्री या उच्च पदाधिकारी के पास सहायक के रूप मे कार्य करता था। राजौर अभिलेख मे गमागमिक पदाधिकारी का उल्लेख हुआ है।[4] 'बृहत्कथाकोष' मे गमागम के स्थान पर 'गतागत' शब्द का प्रयोग है।[5] दशरथ शर्मा के अनुसार यह राजदूत या राजभृत्य था। उसका कार्य राजा के आदेश पत्रो को निर्धारित पदाधिकारी के पास पहुँचाना था।[6]

एक अन्य कनिष्ठ पदाधिकारी 'पारिग्रही' का भी उल्लेख मिलता है। पारिग्रही राजा के आदेश पत्रो की प्रतियां तैयार किया करता था। वि स 1226 के बिजोलिया अभिलेख से ज्ञात होता है कि यह दान पत्र आल्हण पारिग्रही द्वारा तैयार किया गया था।[7]

राजस्व व्यवस्था

राज्य की आय के तीन प्रमुख परम्परागत साधन थे--भाग (उपज मे राजा का भाग), शुल्क (चुगी) एव दण्ड से प्राप्त धन। राज्य मे कृषक, श्रमिक, व्यापारी तथा शिल्पकार प्रमुख करदाता होते थे। इनकी रक्षा का दायित्व राजा पर था, अत राजा को उनसे कर, भाग और शुल्क लेने तथा

---

1. इ आई, 3, पृ. 263-67
   पचम विक्रमादित्य के कौथेम ताम्रपत्र (आई ए., 16, पृ 15) तथा ववर्क सुवर्ण वर्ष को ब्राह्मणपल्ली दान पत्र (एव. आई जी, 3, पृ. 141) मे नियुक्तक का उल्लेख मिलता है।
2. उपमितिभवप्रपचकथा, पृ. 10
3. वही, पृ 126
4. इ आई., 3, पृ. 263-67
5. बृहत्कथाकोष, 55, 217
6. रा प्र.ए, पृ. 323
7. इ.आई, 26, पृ. 90-100

उन पर दण्ड लगाने का अधिकार था। हमारे अध्ययन काल के अभिलेखो व दानपत्रो म राज्य की ग्राय के निम्नलिखित साधन उल्लिखित हैं–

(1) भाग या उद्रङ्ग
(2) हिरण्य
(3) भोग
(4) शुल्क, जो मण्डपिका पर वसूल किये जाते थे
(5) दण्ड
(6) ग्राभाव्य या फुटकर कर।

भाग और उद्रङ्ग शब्दो को परिभाषित करने का विभिन्न प्रभति विद्वानो ने प्रयास किया है।[1] ए एस ग्रल्तेकर ने उद्रङ्ग को 'भाग कर' की सज्ञा दी है। वी वी मिराशी ने भी उद्रङ्ग को भागकर के अनुरूप ही स्वीकार किया है। दशरथ शर्मा ने इस सम्बन्ध म अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि उद्रङ्ग भूमिकर के रूप मे उन व्यक्तियो से लिया जाता था जो अपनी परम्परागत भूमि जोतते थे। यह भूमि कर अभिलेखो मे उद्रङ्ग के स्थान पर 'भाग' भी कहा गया है। ग्रल्तेकर से सहमति प्रकट करते हुए वह भी उद्रङ्ग और भाग को पृथक् कर नही मानते। परन्तु लल्लनजीगोपाल उद्रङ्ग और 'भाग' को दो अलग-अलग भूमि करो के रूप मे स्वीकार करते हैं। उन्होने इस मत के समर्थन मे कोई ठोस प्रमाण नही दिये हैं। उनका कहना है कि 'उद्रङ्ग' और 'भाग दोनो शब्दो का एक ही स्थान पर एक गुप्तकालीन अभिलेख[2] मे उल्लेख हुआ है। परन्तु विचाराधीनकाल मे उद्रङ्ग और भाग शब्दो का राजस्थान के अभिलेखो मे एक साथ प्रयोग देखने मे नही आता। अत हमारे विचार से कम से कम विचाराधीन युग के राजस्थान म उद्रङ्ग और भाग एक ही भूमिकर का नाम था जो स्थायीकृषको से वसूल किया जाता था।

भाग या उद्रङ्ग एक निश्चित भूमिकर था। यह सामान्यत उपज का 1/6 भाग होता था। यह अनाज के रूप म वसूल किया जाता था। स्मृतिकारो ने राजा को उपज का 1/6, 1/8 और 1/12 हिस्सा 'भाग' के रूप मे प्राप्त करने का अधिकारी बताया है। 'राजनीतिप्रकाश' के आधार पर 'विष्णुधर्मोतर' म कहा गया है कि राजा शूकधान्य (जो गेहूं इत्यादि) का

---

1 भाग, भोग, हिरण्य, उद्रङ्ग, उपरिक इत्यादि शब्दो के विश्लेषण हेतु द्र, लल्लनजीगोपाल, द इकोनोमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ 32-43

2 कार्पस, 3, 39

1/6 भाग, शिम्बीधान्य (दाल) का 1/8 भाग, वर्षों से न जोते गये खेत (बजर भूमि) से उत्पन्न अन्न का 1/10 भाग तथा वर्षा ऋतु मे उत्पन्न अन्न का 1/6 हिस्सा भाग के रूप मे लेने का अधिकारी है।[1] तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के वि स. 1236 के फलोदी अभिलेख मे उपज का 1/5 भाग कर के रूप मे लिये जाने का उल्लेख है।[2] सम्भवतः भूमि के प्रकार और उर्वरता को ध्यान मे रखकर ही 'भाग' की मात्रा निश्चित की जाती थी। जैसा कि ऊपर कहा गया है राजस्थान मे भाग को उद्रङ्ग भी कहा जाता था। उद्रङ्ग उन कृषको से लिया जाता था जिनका भूमि पर आनुवाशिक अधिकार होता था। परन्तु कुछ भूमि इस प्रकार की होती थी जिस पर कोई भी व्यक्ति खेती कर सकता था। इस प्रकार की खेती से राज्य 'भाग' के रूप मे जो कर लेता था वह 'उद्रङ्ग' से कुछ अधिक होता था। इसका सकेत हमे राजौर अभिलेख मे मिलता है।[3]

राजा जब उपज का हिस्सा मुद्रा के रूप में लेता था तो वह कर 'हिरण्यक' कहलाता था। द्वितीय ध्रुव के शक सवत 757 के बडौदा दानपत्र में 'हिरण्य' और 'धान्य' विपरीतार्थक शब्दो के रूप मे प्रयुक्त हैं।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि 'हिरण्य' नामक कर मुद्रा के रूप मे लिया जाता था। राजस्थान के अभिलेखो मे 'हिरण्य' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है।[5]

राजस्थान के अभिलेखों में भोग नामक भूमि कर का भी उल्लेख है। ग्रामवासी फल, सब्जी, पुष्प, दूध, दही, लकडी इत्यादि राजा को उसके सैद्धान्तिक भू-स्वामित्व के बदले दिया करते थे। इसे भोग कहा जाता था। हरिषेण रचित 'वृहत्कथाकोप' मे राजा के दशागभोगो का उल्लेख मिलता है।[6] अल्तेकर ने 'भोग' को उपरिकर की सज्ञा दी है परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नही दिए हैं। वर्णदेव के वि स. 996 के नौमारी ताम्रपत्र मे 'उपरिकर' और 'भोग' शब्दो का एक साथ प्रयोग होना इस मत के विरुद्ध है।[7] मथनदेव के एक दानपत्र मे 'भोग' और 'भाग' का एक साथ उल्लेख

---

1. काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, 2, पृ. 671
2. जे. पी. ए. एस. बी., 12, पृ. 93
3. इ. आई., 3, पृ 263
4. एच. आई. जी., 2, स. 127
5. रा. अ. ए, पृ. 325 पर उद्धृत
6. दशागभोग–भाजन, भोजन, शय्या, वाहन, आसन, नाट्य, पुर, निधि, रत्न और धमू।
7. एच. आई. जी., पृ. 23

है ।[1] इगनोडा अभिलेख म 'हिरण्यक भाग भोग करदानी समेतम्' शब्दो का प्रयोग हुआ है ।[2] कल्हणदेव के साण्डेराव प्रस्तर अभिलेख मे राजकीय 'भोग' का विवरण दिया गया है ।[3]

'दान' और 'शुल्क' आयात और निर्यात पर लिये जाने वाले 'चु गी' कर थे । ऐसे करो को 'मण्डपिका' अर्थात चु गी चौकी पर चुकाना होता था । एक राज्य म ऐसी अनेक मण्डपिकाए होती थीं । वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए कई जगह चु गी देनी होती थी । 'मण्डपिका' पर वसूल किये जाने वाले 'शुल्क' से धार्मिक स्थानो की व्यवस्था के लिए कुछ धन-राशि दिये जाने के उदाहरण भी मिलते हैं । नाडोल शासक अणहिल्लदेव ने इस नगर मे स्थित षेडेरकगच्छ के उपास्यदेव भगवान महावीर की पूजा के लिए धूप-दीप की व्यवस्था हेतु मण्डपिका की आय मे से प्रति माह 5 द्रम्म देने की घोषणा की थी ।[4] प्रतापसिंह के नाडोल से प्राप्त वि स 1213 के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि तीन जैन मन्दिरो के निर्वाह हेतु बादरी नगर की मण्डपिका से प्रति दिन एक रूपक का दान दिया जाता था ।[5] चौलुक्य शासक कुमारपाल ने नाडोल स्थित लक्ष्मणेश्वर मन्दिर का मण्डपिका की आय से एक द्रम्म प्रतिदिन दिये जाने का आदेश दिया था ।[6] हस्तिकुण्डी के विदग्ध ने 'परहित तथा जनकल्याण के लिये मण्डपिका के माध्यम से दान देने की व्यवस्था की थी । मन्दिर का निर्माण विदग्धराज ने अपने गुरु बलभद्र के लिए करवाया था । उसके उत्तराधिकारी ने भी इस पूर्व स्वीकृत दान को अनुमोदित किया था । उक्त अभिलेख मे दान के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है —

(1) विक्रयार्थ जाने वाली प्रति 20 गाडो पर एक रूपक,
(2) प्रति गाडी पर एक रूपक (जो गाव से वस्तु विक्रय हेतु बाहर जाती हो अथवा गाव मे आती हो),
(3) प्रत्येक घाणी से एक घडे (तेल) पर एक रूपक,
(4) पान विक्रेता भट्टो से 13 चौल्लिक,
(5) धूतको से एक एक पेल्लक,

1 वीर विनोद, 4, पृ 1531-32
2 आई ए, 6, पृ 55-56
3 इ आई, 11, पृ 47
4 वही, 9, पृ 62
5 आई ए, 41, पृ 202
6 ए आर आर एम ए, 1937 न 8

(6) प्रत्येक अरहट्ट से एक आढक गेहूँ व जौ,
(7) पेडा से 5 पल,
(8) प्रत्येक भार (जो 200 पलो का होता है) पर विंशोपक,
(9) प्रत्येक भार (सूत, ताम्बा इत्यादि) पर 10 पल,
(10) गेहूँ, मूंग, नमक, दाल इत्यादि के प्रति द्रोण पर एक माणक।

राज्य को करो के रूप मे होने वाली आय के उक्त अंश दान स्वरूप दिये गये प्रतीत होते हैं। इसमे 2/3 भाग मन्दिर को दिया गया था और 1/3 भाग बलभद्र को गुरु दक्षिणा स्वरूप।[1] सारणेश्वर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि राजा ने मन्दिर की व्यवस्था के लिए उधर से गुजरने वाले प्रत्येक हाथी पर एक द्रम्म, घोड़े पर दो रूपक, सींग वाले जानवरो पर एक द्रम्म का चालीसवा अंश, लाटे पर एक तुला, वहा स्थित हट्ट से एक आढक अन्न, शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन हलवाई की प्रत्येक दुकान से एक घड़िया दूध, जुआरी से एक पेटक, प्रत्येक घाणी से एक पल तेल, प्रति रंधनी (भोज) से एक रूपक और मालियो से प्रति दिन एक माला लिये जाने की व्यवस्था की थी।[2] मंगरोल अभिलेख के अनुसार इस प्रकार के शुल्को की अदायगी शुल्क मण्डपिकाओ मे की जाती थी।[3]

शुल्क राज्य की आय का प्रमुख स्रोत माना जाता था। शुल्क दरो के सम्बन्धो मे स्मृतिकारो मे मतैक्य नही है। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के अनुसार राजा आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओ पर 20 प्रतिशत कर लेने का अधिकारी था।[4] 'अग्निपुराण' मे कहा गया है कि विदेशी व्यापारियों से लिये जाने वाले शुल्क की दर अधिक होनी चाहिये। उसे 5 प्रतिशत से अधिक लाभ नही मिलना चाहिये।[5]

शुल्क दो प्रकार के होते थे। प्रथम वे जो स्थल मार्ग द्वारा लाये जाने वाले सामान पर लिये जाते थे। उनकी वसूली मण्डपिका के माध्यम से होती थी। दूसरे वे जो जल मार्ग द्वारा लाये जाने वाले सामान पर लिये जाते थे। इनकी वसूली घाटो पर स्थित चौकियो पर की जाती थी। राजस्थान मे इस प्रकार के शुल्क का उल्लेख अभिलेखो मे अनुपलब्ध है। परमार

1. इ.आई., 10, पृ. 17-20
2. आई ए., 58, पृ. 161-62
3. एच.आई जी., 2, स. 145
4. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2/261
5. अग्निपुराण, 23, 23-24

राज्य मे *प्रथम प्रकार के शुल्क को मण्डपिकादाय तथा द्वितीय प्रकार के* शुल्क को घट्टादाय की सज्ञा दी गई थी।[1]

परमार राज्य मे चु गी कर का कुछ विस्तृत ज्ञान अथूर्णा अभिलेख से होता है। इस अभिलेख मे विभिन्न प्रकार के चु गी करो और उनकी दरो का विस्तृत विवरण दिया गया है[2] जो इस प्रकार है —

(1) कन्दयुक्त खाड और गुड के प्रत्येक भरक पर एक वर्णिका लिया जाता था।

(2) बगाल, मजिष्ठ सूत और रुई के प्रत्येक भरक पर एक रूपक चु गी कर के रूप म लिया जाता था।

(3) नारियल के प्रत्येक भरक पर एक नारियल चु गी के रूप मे लिया जाता था।

(4) नमक के प्रत्येक मूटक पर एक मानक की दर से कर लिया जाता था।

(5) प्रत्येक एक हजार सुपारियो पर एक सुपारी की दर से चु गी ली जाती थी।

(6) तिल्ली के तेल और घी के प्रत्येक घटक पर एक पलिका चु गी ली जाती थी।

(7) वस्त्रो की प्रत्येक कोटिका पर डेढ रूपक चु गी लगती थी।

(8) प्रत्येक जाल (पूलो का गट्ठा) पर दो पूलक चु गी ली जाती थी।

(9) प्रत्येक लगडा पर दो सन्त चु गी कर के रूप म वसूली होती थी।

(10) तेल के प्रत्येक कर्ष पर एक पाणक चु गी लगती थी।

(11) घास की प्रत्येक गाडी या बैल पर एक वृष विशोपक चु गी वसूल की जाती थी।

(12) खाण्ड के प्रत्येक ढेर पर एक द्रम्म चु गी ली जाती थी।

(13) एक अरहट्ट पर जौ की उपज पर एक हारक की वसूली होती थी।

(14) अनाज के प्रत्येक भरक पर एक छाग।

(15) प्रत्येक लगडा पर एक चकातर।

(16) जौ के प्रत्येक मूटक या आटविक पर एक वाप चु गी कर के रूप मे ली जाती थी।

इस अभिलेख से आवकारी का बोध भी होता है। कलारो से उनके प्रत्येक वकक पर चार रूपक की दर से कर वसूल किया जाता था।[3]

---

1 द परमाराज, पृ 232

2 इ आई 14, पृ 295-310

3 वहा

राहदारी या मार्गादाय (यातायात कर) जैसे कर लेने की भी प्रथा थी। चौलुक्य[1], गाहडवाल[2] तथा चाहमान[3] अभिलेखो से इस विषय में जानकारी मिलती है। पनहेरा अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रथम जयसिंह ने राजपथ से जाने वाले लद्दू बैल पर एक विंशोपक की दर से कर वसूली करवाई थी।[4] शेरगढ अभिलेख से ज्ञात होता है कि वरंग नाम के मार्गदाय कौपतिक ने वि. स. 1075 मे भगवान सोमनाथ के मन्दिर मे धूप और चन्दन की व्यवस्था के लिए मार्गादाय की निधि मे से पाच वृषभ दान किया था।[5]

अथूणां अभिलेख से जानकारी मिलती है कि चैत्रमास मे केसर की दुकानो से प्रति दुकान एक द्रम्म कर लिया गया था। इसी प्रकार चैत्रमास मे उत्सवो तथा उपनयन सस्कार हेतु स्थानीय बाजार के व्यापारियों से प्रति घर एक द्रम्म शुल्क लिया जाता था। इसी प्रकार का शुल्क व्यापारी सघो से भी लिया जाता था।[6] अथूणां अभिलेख से ही ज्ञात होता है कि वासवाडा क्षेत्र मे प्रत्येक द्यूतगृह से दो रूपक कर लिया जाता था।[7] इसी अभिलेख मे गृहकर सम्बन्धी जानकारी भी मिलती है। राज्य मे प्रत्येक घर से एक द्रम्म की दर से गृह कर वसूल करने की प्रथा थी।[8]

'चोलपिका' नामक कर का विवरण भी प्राप्त होता है। नगर के बाहर से आये प्रत्येक चौल्लिका पर 50 ताम्बूल पत्ते कर के रूप मे लिये जाते थे। परमार शासक प्रतापसिंह के पटनारायण अभिलेख के अनुसार मण्डौली गाव की 'चोलपिका' से प्राप्त आय को राजपुत्र गगा और करमसिंह ने पटनारायण मन्दिर मे एकादशी के खर्च के लिए दान में दी थी।[9]

'दण्ड' के अन्तर्गत वे कर परिगणित किये जाते थे जो अपराधियो से दण्ड स्वरूप लिये जाते थे या जिन्हें पराजित शत्रु को देने के लिए बाध्य किया जाता था। इसमे मुद्रा, द्रव्य, वस्तु, पशु इत्यादि सम्मिलित होते थे। स्मृतिकारो ने दस अपराधो का उल्लेख किया है। नारद ने इन अपराधो

1. आई. ए., 6, पृ. 204
2. इ. आई., 14, पृ. 194-95
3. वही, 11, पृ. 59-60
4. वही, 21, पृ. 48
5. वही, 23, पृ. 140
6. वही, 14, पृ. 302
7. वही
8. वही
9. वही, 45, पृ. 79

की यह सूची दी है— राजा की आज्ञा का उल्लघन, स्त्रीवध, वर्णसकरता, परस्त्रीगमन, चौर्य, विना पति के गर्भाधारण, वाक् पारुष्य (मान हानि), अश्लीलता, दण्ड पारुष्य (मार पीट) एव गर्भपात। इन अपराधो के लिए अर्थदण्ड की व्यवस्था थी। यदि कोई व्यक्तिगत रूप से आवेदन न करे तब भी राजा ऐसे मामलो मे अपनी ओर से अनुसधान कर सकता था।[1] हमारे अध्ययन काल के अभिलेखो व दानपत्रो मे 'दशापराध' सम्बन्धी अनेक उल्लेख प्राप्त होते है।[2]

वि स 1209 के आल्हणदेव के किराडू अभिलेख[3] और गुजरात के कुमारपाल चौलुक्य के काल के रत्नपुर (मारवाड) अभिलेख[4] के अनुसार महीने की कुछ विशिष्ट तिथियो (यथा अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी और अमावस्या) को पशुओ का वध अपराध घोषित किया गया था और ऐसे अपराधी से अर्थदण्ड लेने की व्यवस्था की गई थी। किराडू लेख मे ब्राह्मणो, पुरोहितो, मन्त्रियो और अन्य राजकीय सेवको को भी इस अपराध के लिए 5 द्रम्म दण्ड देना निश्चित किया गया था। रत्नपुर अभिलेख मे ऐसे अपराधी को 4 द्रम्म दण्ड दिये जाने का उल्लेख है।

जब कोई ग्राम कृषि कार्य के लिए किसी को दे दिया जाता था तब सामान्यतया उस गाव की अर्थदण्ड धनराशि उसके स्वामी की ही समझी जाती थी जबकि उसकी वसूली वस्तुत ग्राम "भोक्ता" द्वारा होती थी।[5]

उपर्युक्त करो के अतिरिक्त अन्य कई कर भी लिये जाते थे जिन्हे 'आभाव्य' *की सज्ञा दी गई थी। द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ अभिलेख मे* 'स्कन्धक' 'मारगणक' आदि करो के लिए 'आभाव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है।[6] 'स्कन्धक' कर कन्धो पर ले जाने वाले सामान पर लिया जाता रहा होगा। अल्तेकर के अनुसार 'स्कन्धक' एक लाग थी। ग्रामवासी दौरा करने वाले राजकीय अधिकारी का सामान ढोने का प्रबन्ध करते थे। उनका सामान कधे पर उठा कर ले जाया जाता था। इसलिए इस लाग का नाम ही 'स्कन्धक' प्रचलित हो गया था।[7] स्थानीय सस्थाओ को गाव या नगर के सार्वजनिक

---

1 काणे, पी वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ 716, 717
2 इ आई, 3, पृ 263
3 वही, 11, पृ 44
4 बी आई, पृ 205-07
5 द्र, लेख पद्धति, पृ 12 और 16
6 इ आई, 14, पृ 176-188
7 अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 205, द्र इ आई, 3, पृ 266

उपयोगी कामो मे इस बेगार (स्कन्धक) का उपयोग करने का अधिकार होता था।

'मारगणक' एव अन्य लाग अथवा कर था जो ग्रामवासियो व नगरवासियो से वसूल किया जाता था। दशरथ शर्मा के अनुसार कुछ विशेष प्रयोजन हेतु राजकीय कर्मचारियो और ग्राम पचो को अपने क्षेत्र मे लोगो के पास चन्दा मागने के लिए जाना पडता था। इस धनराशि का राजकीय उच्च पदाधिकारियो या राजपरिवार के सदस्यो के आगमन पर उपयोग किया जाता था।[1]

मण्डपिकाओ के माध्यम से तलाराभाव्य, सेलहथाभाव्य और बलाधिपाभाव्य आदि करो को वसूल करने का उल्लेख मिलता है। तलार[2] (नगर कोतवाल) सेलहथ[3] (ग्रामीण क्षेत्र का पदाधिकारी) और बलाधिप[4] (सैनिक अधिकारी

---

1 राअ्रए, पृ 327-328, द्र (i) विस, 1231 का द्वितीय अजयपाल का ताम्रपत्र, एचआईजी, 2, स 157 (ii) कलचुरी राजा विजयसिंह का कुम्भी ताम्रपत्र, कार्पस, 4, पृ 649 आज की शब्दावली मे 'मारगण' को 'मागना' कहा जा सकता है। गावो मे विशिष्ट कार्यों के लिए माग की जाती थी। राजकार्य से सरकारी कर्मचारियो के ग्राम मे आगमन पर ग्रामवासियो को उनके रहने और भोजन का व्यय देना पडता था। इसके लिए सबसे चन्दा मागा जाता था। (आईए, 14, पृ 319)। कही कही बाद मे अभिनवमारण कर का भी उल्लेख हुआ है। इसका अर्थ है नयी माग।

2 त्रिविक्रम और हेमचन्द्र ने 'तलार' को पुराध्यक्ष या नगराध्यक्ष कहा है। द्र (i) कान्हडदेप्रबन्ध मे 'तलार' को नगर और सलहथ को देश (ग्रामीण क्षेत्र) का पदाधिकारी बताया है, चतुर्थ खण्ड चौ 40, (ii) माणक्यसूरि ने 'पृथ्वीचन्द्रचरित' म 'तलार' को पुलिस अधिकारी कहा है जो रात्रि म नगर की रक्षा का प्रबन्ध करता था और चोरो को पकडता था, पृ 105, (iii) इ आई, 11, पृ 47, (i) सेवाडा अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रीमालदेश मे स्थित जाजदौलि ग्राम के निवासियो ने 'तलार' का कार्य करने के लिए प्रतिहार प्रतापसिंह को 20 द्रम्म देना स्वीकार किया था। आठ वर्ष बाद इसी को पुन स्वीकार किया था। आई एच क्यू 36, पृ 17-20।

3 कान्हडदेप्रबन्ध, 4, चौ 40

4. द्र इ आई 11, पृ 46

जो नगर मण्डपिका के प्रबन्ध के लिए नियुक्त होता था) का वेतन आंशिक रूप अथवा पूर्ण रूप से उक्त 'आभाव्यो' से एकत्र धनराशि से दिया जाता था।

'प्रस्थक' भी एक प्रकार का कर था जो सामान्य उपज के निश्चित 'भाग' के लेने के बाद प्रति प्रस्थ (माप) के आधार पर लिया जाता था। गाहडवाल अभिलेखों मे अक्षपटलीयप्रस्थ और प्रतिहार प्रस्थ करों का उल्लेख मिलता हैं।[1] हो सकता है राजस्थान मे भी यह कर लिया जाता रहा हो।

मथनदेव के राजौर अभिलेख मे खलभिक्षा कर का उल्लेख हुआ है।[2] करितलाई अभिलेख मे चार खलभिक्षाओ के दान का उल्लेख है।[3] इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि खलिहानो पर राजा का एकाधिकार होता था। किसान खेत से अपनी उपज खलिहान मे लाता था। जब दाने अलग करने की प्रक्रिया समाप्त हो जाती थी तब राज्य को खलभिक्षा के रूप मे कुछ अनाज दिया जाता था।[4] राज्य के अतिरिक्त उन सभी गावों के व्यक्तियो को भी खलिहान से निश्चित अनाज दिया जाता था जो कृषको की सेवा करते थे। जैसे गाव के खाती, लुहार, कुम्हार, नाई, धोबी इत्यादि। प्रस्थक कर मे लाभानुभागी राज्य था जबकि खलभिक्षा मे लाभ-ग्राही गाव के खाती, लुहार इत्यादि भी होते थे। राजौर अभिलेख मे उल्लिखित है कि उत्कीर्ण लाग व करो के अतिरिक्त, अन्य करो का जिनका यहा उल्लेख नही किया गया है, भोक्ता भी दानग्राही होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि और भी अनेक कर लिए जाते थे।

बलवर्मा के ऊना अभिलेख मे चौल्लक कर का उल्लेख मिलता है।[5] वृहत्कथाकोप' मे राज्य के प्रत्येक घर पर क्रम से भोजन करने वाले अधिकारी की ओर सकेत है।[6] राजौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि बाहर से आने वाली प्रत्येक टोकरी या चौल्लिका पर 50 पत्तियो का कर लगाया जाता था।[7] चौल्लिका सम्भवत बोज का माप था।

---

1 इ आई, 14, पृ 103 वही, 3, पृ 263
2 वही, 3, पृ 263, द्र वही 25, पृ 280, आई ए 18, पृ 114-115
3 इ आई, 2, पृ 174
4 गोपाल, लल्लनजी, द इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ 66
5 एच आई जी, 3, पृ 237
6 वृहत्कथाकोष, पृ 34-37
7 इ आई, 3, पृ 263-67

बलवर्मा के उक्त अभिलेख[1] मे ही वेणि कर का भी उल्लेख है। यह कर बास या बास की बनी चीजो पर लिया जाता था। इस अभिलेख मे वैणिक[2] कर का भी उल्लेख है परन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नही है।

जब कुए से चरसा द्वारा पानी निकाल कर सिचाई की जाती थी तो प्रत्येक चरसा के हिसाब से कोश्य नामक कर लिया जाता था।[3] राजौर अभिलेख[4] मे मयुत नामक कर का उल्लेख है। मयुत शब्द का प्रयोग 'भोग' के साथ हुआ है इसलिए रमाशकर त्रिपाठी का कहना है कि यह कर फल या इंधन के रूप म लिया जाता होगा।[5] घोषाल ने इसे 'भोग' की भांति का कर बताया है।[6]

चाहमान अभिलेखो मे राजस्व सम्बन्धी अनेक शब्दो का उल्लेख मिलता है। सम्भवत दान (चु गी कर) आदान का सूक्ष्म रूप था और कौटिल्य के 'शुल्क' के अनुरूप था। 'दान' चाहमान राज्य के आय का महत्वपूर्ण स्रोत था। आदान सभी प्रकार के दाय या चु गी का द्योतक था। राजदेव के नाडलाई अभिलेख से ज्ञात होता है कि नगर के बाहर से आने वाले सभी 'लद्दू' बैलो पर आदान कर लेने की व्यवस्था थी।[7] अभिलेखो मे 'भाग' से भिन्न 'लाग' का उल्लेख हुआ है।[8] राजस्थान मे रायपाल के राज्यकाल के नाडलाई पाषाण अभिलेख मे 'आरमपायल' शब्द का प्रयोग मिलता है।[9] 'पायल' कर 'भोक्तों' या जागीरदारो द्वारा लिया जाता था। इसी प्रकार राजा को भी पायल कर वसूल करने का अधिकार था। पायल एक तौल[10] का परिचायक है। यह समुचित रूपेण ज्ञात नही कि यह कर किन वस्तुओ पर लिया जाता था। आल्हणदेव के वि स 1218 के नाडोल अभिलेख मे 'तलपद' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक वलभी अभिलेख[11] के आधार पर

1 एच आई जी , 3, पृ 237
2 वही
3. वही
4 इ आई , 3, पृ 263-67
5. हिस्टरी ऑफ कन्नोज, पृ 347
6. घोषाल, यू एन , हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ 237
7. इ आई 11, पृ 36
8 वही, पृ 59
9 वही, पृ 41
10. वही, 9, पृ 64
11. भ.चौ इा , पृ. 236 पर उद्धृत

कीलहार्न ने 'तलपड' को 'स्वतल' का पर्याय माना है और इसका अभिप्राय भूमि से बतलाया है। यू एन घोषाल के अनुसार यह वह भूमि थी जिसकी आय का पूर्णतया मूल्याकन हो चुका होता था।[1] 'हलसही'[2] कर एक हल द्वारा बुआई की उपज पर आका जाता था। आभाव्यो की भाति यह 'लाग' कृषि से सम्बन्धित विभिन्न उपयोगी व्यक्तियो तथा राजस्व सम्बन्धी क्षेत्रीय राजकीय पदाधिकारियो के लिए ली जाती थी। 'दशबन्ध' कर आय के दसवें भाग के रूप म लिया जाता था। वि स 1200 के नाडोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि राणक मन्दिर की नर्तकियो को दशबन्ध कर से मुक्त कर दिया था।[3] 'लेखपद्धति' से ज्ञात होता है कि घोडे की बिक्री पर 'दशबन्ध' उनकी कीमत पर आका गया था।[4] देवदाय धर्म सम्बन्धी कर का द्योतक है जो मुद्रा या वस्तु के रूप मे वसूल किया जाता था। 'डोहलिका' में दी गई भूमि का भोक्ता सभी करो से मुक्त होता था।[5]

अभिलेखो मे 'निधान का भी प्रयोग हुआ है। यू एन घोषाल ने इसे कृषि भूमि पर एक प्रकार का कर माना है। परन्तु वि स 1223 के केल्हणदेव के बामनेरा ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध निखात निधि से था।[6] 'लेखपद्धति' मे नवनिधान[7] शब्द का उल्लेख मिलता है। परम्परा से भू गर्भ मे नवप्रकार की निधि मानी जाती थी जिस पर राजा का अधिकार समझा जाता था। 'अभ्यान्तरसिद्धि[8] शब्द द्वितीय भर्तृवड्ढ के हासोट ताम्रपत्र मे मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि खनिज रूप मे उपलब्ध भू गर्भ निधि राजकीय सम्पत्ति है तथा उन पर कर लगाना राजा का अधिकार है। दानपत्रो मे इस अधिकार को भी भोक्ता को दिये जाने का उल्लेख है।

राज्य की आय का एक अन्य मुख्य स्रोत सामन्तो से प्राप्त निश्चित वार्षिक धनराशि, भेंट, उपहार इत्यादि थे। इसके अतिरिक्त युद्ध मे लूट से

1 घोषाल, यू एन, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ 298
2 द्र वि स 1332 का भीनमाल अभिलेख
3 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1908-09, पृ 45
4 अ चौ डा, पृ 237 पर उद्धृत
5 डोहलिका शब्द का प्रयोग, वि स 1223 के बामनेरा ताम्रपत्र, वि स 1226 के बिजोलिया अभिलेख तथा वि स 1236 के फलोदी अभिलेख म मिलता है।
6 इ आई, 13, पृ 210
7 लेखपद्धति, पृ 6
8 इ आई, 12, पृ. 202

भी पर्याप्त धन प्राप्त हो जाता था।[1] परन्तु आय का यह साधन अनिश्चित व संदिग्ध होता था।

चाहमानों की आय का एक प्रमुख साधन साम्भर झील थी।[2] राज्य म खानो एव खनिज पदार्थों की कोई कमी नहीं थी। अत इनसे राजकीय आय में वृद्धि अवश्य हुई होगी।

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो मे राजकीय व्यय का विवरण विशेष स्पष्ट नही है। राजकीय व्यय सामान्यत राज्य कर्मचारियो के वेतन, सार्वजनिक कार्यों, शिक्षा और वैयक्तिक तथा सार्वजनिक दान आदि रूपो मे होता था। हमारे अध्ययनकाल म ब्राह्मण, मन्दिरो, विद्वानो, लेखको, कवियो को दान दिये जाने के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। कुए, सरोवर, वापी, मन्दिर इत्यादि के निर्माण सम्बन्धी अभिलेख पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होते हैं। निरन्तर युद्ध इस तथ्य के द्योतक हैं कि राज्य की आय का अधिकाश भाग सेना पर खर्च किया जाता था। राजसभाओ की भव्यता को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस मद पर भी पर्याप्त धनराशि व्यय की जाती थी। राजा लोग अपने और अपने परिवार के सदस्यो पर भी धन की बहुत बडी राशि खर्च किया करते थे। 'मानसोल्लास' के अनुसार राजा को सामान्यत आय का केवल 3/4 भाग खर्च करना चाहिए और शेष 1/4 भाग स्थायी या सुरक्षित कोष मे जमा करवाना चाहिये।[3]

सैनिक प्रशासन

छठी से बारहवी शताब्दी का समय राजस्थान में निरतर होने वाले युद्धो का काल था। ऐसी स्थिति म सैन्य विभाग का महत्वपूर्ण होना स्वाभाविक था। परम्परानुसार राज्य की आय का 50 प्रतिशत अश तक सैन्य

---

1 नाडोल के परमार सोमेश्वर के वि स 1218 के एक अभिलेख मे लिखा है कि सोमेश्वर ने जज्जक से 1700 घोडे लिए जिनमे एक पच नखा और आठ मयूर सीनेदार भी सम्मिलित थे। इनके साथ-साथ तणुकोण और नवसरा के गढ़ भी प्राप्त किये थे। वि स 1239 मे तृतीय पृथ्वीराज ने चन्देलो की भूमि को लूटा था। पाणाहेरा अभिलेख (वि स 1116) मे कहा गया है कि परमार माण्डलिक ने बडे बलवान सेनापति काह को पकड कर हाथी और घोडो सहित जयसिंह के सुपुर्द किया।

2 पृथ्वीराजविजय, 4, 85

3 मानसोल्लास, 2, वि, 4, श्लोक 539-40

व्यवस्था पर व्यय किया जाता था ।[1] सैनिक प्रशासन का सचालन बलाधिकरण (सैनिक विभाग) द्वारा होता था। यह राजधानी या केन्द्र मे स्थित होता था और सेनापति तथा अन्य सैनिक पदाधिकारियो के निर्देशन मे कार्य करता था। सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी स्वय राजा होता था। सिद्धान्तत वह युद्ध काल मे सेना का नेतृत्व तथा सचालन करता था। भारत मे प्राचीनतर युगो मे सेना चार वर्गों मे विभक्त होती थी—(i) पदाति सेना, (ii) अश्व सेना, (iii) गज सेना तथा (iv) रथ सेना। परन्तु रथ का उल्लेख इस काल के अभिलेखो मे नही मिलता। परमार राजा अर्जुन वर्मा के एक अभिलेख मे तीन प्रकार के योद्धाओ का उल्लेख है। वे निश्चय ही परमार सेना के तीन वर्गों – पदाति, अश्वारोही और गज सेना – को इगित करते हैं।[2] हम्मीर के विरुद्ध अभियान के समय चाहमान नरेश चतुर्थ विग्रहराज की सेना मे एक सहस्र गजारोही, एक लाख अश्वारोही और एक लाख पदाति थे।[3] 'खरतरगच्छपट्टावली' म तृतीय पृथ्वीराज की सेना म सत्तर हजार घुडसवारो तथा भारी सख्या मे हाथियो का होना निर्देशित है।[4] 'तारीख-ए-फिरिश्ता'[5] मे तृतीय पृथ्वीराज की सेना मे तीन लाख घुडसवार और तीन हजार हाथियो का होना बताया है। फिरिश्ता का यह कथन अतिश्योक्तिपूर्ण है परन्तु इससे यह अवश्य स्पष्ट होता है कि विचाराधीन काल मे सेना मे अश्वो और हाथियो का अधिक महत्व था। वि स 1136 के अथूर्णा अभिलेख से सकेतित है कि उस समय प्रतिष्ठित व्यक्ति हाथी पर बैठ कर युद्ध करते थे।[6]

स्मृतिकारो ने छ प्रकार की सेनाओ का विवरण दिया है जो इस प्रकार है – मौल (वश परम्परानुगत), भृत, भृतक या भृत्य (वेतन भोगी सैनिको का दल), श्रेणी (व्यापारियो या अन्य समुदायो की सेना), मित्र (मित्र और सामन्तो की सेना), अमित्र (ऐसी सेना जो पहले शत्रु पक्ष की थी) और अटवी या आटविक (वन्य जातियो की सेना)।[7] द्वितीय धरसेन के मलिया

1 शुक्रनीति, 1 316-17
2 जे ए ओ एस, 7, पृ 26
3 इ आई, 20, पृ 201
4 खरतरगच्छपट्टावली, पृ 31
5 तारीख-ए-फिरिश्ता, 1, पृ 17
6 इ आई, 14, पृ 295
7 दे कौटिल्य (9/2), कामन्दक (18/4), अग्नि (242/1-2), मानसोल्लास (216, श्लोक 556, पृ 76)

ताम्रपत्र मे उल्लेख है कि वलभी राज्य के सस्थापक भटार्क ने मौल, भृत, मित्र एव श्रेणी बल की सहायता से राज्य प्राप्त किया था ।[1] परमार स्रोतो मे 'मौल' और 'भृत' सेनाओ का उल्लेख हुआ है ।[2] प्रतिहार और चाहमान शासन काल मे भी इन उक्त दोनो प्रकार की सेनाओ का प्रचलन रहा होगा । हमारे अध्ययन काल के अभिलेखो मे सामन्तो एव मित्रो की सेना का भी यदा कदा उल्लेख हुआ है । प्रतिहार शासक द्वितीय नागभट के शासन काल मे मण्डोर के प्रतिहारो, चाटसू के गुहिलो, सौराष्ट्र के चालुक्यो और शाकम्भरी के चाहमान शासको ने, जो प्रतिहारो के अधीन थे, अपने सेनाओ के साथ सुदूर प्रान्तो मे अनेक युद्ध लडे थे ।[3] रामभद्र ने अपने सामन्तो की सेनाओ की सहायता से विद्रोही तत्वो को कुचलने का सफल प्रयास किया था ।[4] प्रथम भोज की महानता मे प्रतापगढ के चाहमान सामन्त शासको का योगदान रहा था ।[5] उसकी उत्तर भारत की विजय मे गुहिल हर्षराज नामक सामन्त ने भाग लिया था जिसका उल्लेख चाटसू अभिलेख मे हुआ है । इस लेख मे कहा गया है कि 'हर्षराज' ने उत्तरी दिशा के सभी राजाओ को जीतकर भक्तिपूर्वक भोजराज को घोडो की भेंट दी थी । परमार राजा भोज ने अपने मित्र कलचुरि और चोल शासको की मदद से चालुक्य शासक जयसिंह से सघर्ष किया था ।[7] परमार देवपाल ने भी चौलुक्यो से युद्ध करने के लिए मित्रबल का सगठन किया था ।[8] अभिलेखो मे यदा कदा अमित्र सेना का भी उल्लेख हुआ है । नागदे से प्राप्त वि स 718 के एक अभिलेख[9] मे कहा गया है कि गुहिल शासक अपराजित ने महाराज वराहसिंह जैसे शक्तिशाली नरेश को परास्त कर उसे अपने अधीनस्थ सेनापति नियुक्त किया था ।

समसामयिक अभिलेखो तथा साहित्यिक ग्रथो मे कतिपय सैनिक पदो का उल्लेख है । उनमे सेनापति या महादण्डनायक, दण्डनायक, बलाधिकृत, महा युद्धपति, पीलूपति, अश्वपति, पायकाधिपति, कोटपाल और मर्यादाधुर्य विशेषत उल्लेखनीय है । सेनापति या महादण्डनायक के सम्बन्ध मे अन्य

1 आई ए, 13, पृ 160
2 द परमारज, पृ 223-24, इ आई 2, पृ 186
3 रा. अ. ए, पृ 338
4 इ आई, 18, पृ 99-114
5 वही, 14, पृ 176-188
6 वही, 12, पृ 15
7 वही, 15, पृ 331
8 द परमारज, पृ 234 पाद टिप्पणी, 6
9 इ आई, 4 प 31

उल्लेख किया जा चुका है। महादण्डनायक को महादण्डाधिपति, वाहिनिपति, दण्डाधिपति, सेनानायक, सैन्यपति आदि भी कहा गया है।[1]

दण्डनायक

महादण्डनायक के अधीन अनेक दण्डनायक होते थे। भण्डुण्ड अभिलेख में दण्डनायक श्रीविजाक[2] का, घाणेराव अभिलेख[3] में दण्डनायक वैजलदेव का तथा बिजोलिया अभिलेख[4] में दण्डनायक सोनण का उल्लेख हुआ है। निस्सन्देह दण्डनायक सेना का एक उच्च पदाधिकारी था। दण्डनायक शब्द की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। प्रिन्सेप के अनुसार वह जाचपडताल करने वाला (आम्बोसी) न्यायाधीश था। फ्लीट उसे सेनानायक मानते हैं तथा ऑरल स्टीन उसको पुलिस आयुक्त बताते हैं। धनपाल ने अपनी पुस्तक 'तिलकमन्जरी' में दण्डनायक को मूलत सेना का ही पदाधिकारी माना है। परन्तु आवश्यक्तानुसार उसे नागरिक प्रशासन सम्बन्धी कार्य भी करने पडते थे। दशरथ शर्मा ने उसकी तुलना सल्तनत कालीन 'इक्तादार' से की है।[5] 'दण्डनायक' को विजित क्षेत्र म सैनिक कार्यों के साथ-साथ नागरिक प्रशासन का दायित्व भी सम्भालना पडता था। चौलुक्य कुमारपाल ने चितोड-विजय के पश्चात् दण्डनायक सज्जन को चितौड का प्रशासक नियुक्त किया था।[6] द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ अभिलेख[7] मे तन्त्रपाल महासामन्त महादण्डनायक माधव की नियुक्ति उज्जयिनी म होना उल्लिखित है। वह प्रतिहार साम्राज्य के उज्जयिनी क्षेत्र का प्रतिनिधि था। नाडोल मे दण्डाधीश वैजलदेव ने चौलुक्य शासक के प्रतिनिधि के रूप म शासन किया था।[8] चौलुक्य भीम ने अर्बुदमण्डल पर अधिकार कर प्राग्वाट वश के दण्डनायक विमल को प्रशासन हेतु नियुक्त किया था।[9] 'तिलकमन्जरी' मे दक्षिण और उत्तर मे क्षेत्रीय सैन्य बल के रखने का उल्लेख हुआ है। सम्भवत परमारो के शासनकाल में भी यह व्यवस्था थी। प्रतिहार साम्राज्य की सुरक्षा हेतु चार क्षेत्रीय सैन्यबलों

1 रा अ ए, पृ 331, पाद टिप्पणी सख्या 1
2 पी आर ए एस, डब्ल्यू, सी, 1915-16, पृ 5
3 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 218
4 इ आई, 26, पृ 84
5 रा अ ए, पृ 331
6 मजूमदार, ए के, चौलुक्याज ऑफ गुजरात, पृ 109
7 इ आई, 14, पृ 182-84
8 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 218
9 इ आई, 9, पृ 151

की व्यवस्था की गई थी। क्षेत्रीय सैन्यबल दण्डनायक के नेतृत्व में कार्य करता था। प्रतिहारों द्वारा राष्ट्रकूटों की गतिविधि पर ध्यान रखने के लिए एक सेना दक्षिण में रखी गई थी। मुसलमानों का प्रतिरोध करने हेतु पश्चिमी क्षेत्र में भी दण्डनायक के नेतृत्व में सेना रखी गई थी। दो ऐसे सैन्यबल थे जिन्हें आवश्यकतानुसार किसी भी दिशा में साम्राज्य की सुरक्षा हेतु भेजा जा सकता था।

बलाधिकृत

बलाधिकृत भी एक मुख्य सैनिक होता था। 'हर्षचरित' में इसको सेनापति से भिन्न बताया गया है।[1] द्वितीय कक्क के आन्तरोली-छारोली ताम्रपत्र में पदक्रमानुसार बलाधिकृत को सेनापति से नीचे और चौरोद्धरणिक के ऊपर निर्दिष्ट किया गया है।[2] 'उपमितिभवप्रपन्चकथा' में बलाधिकृत को नगर-शासन का अधिकारी कहा गया है। शासन कार्य में उसकी सहायता के लिये एक महतम (महत्तर) की नियुक्ति की जाती थी।[3] प्रतापगढ़ अभिलेख में बलाधिकृत कोक्कट का अधिकृत श्रीशर्मन द्वारा उज्जयिनी के मण्डपिका कार्यभार समालने का उल्लेख है।[4] एक अन्य प्रतिहार अभिलेख में तत्तक नामक बलाधिकृत का उल्लेख हुआ है।[5] वह कोटपाल अल्ल के सहयोग से कार्य करता था। चाहमान अभिलेखों में बलाधिकृत अथवा बलाधिप को नगर स्थित सैनिक टुकड़ी का नायक तथा मण्डपिकाओं से सम्बन्धित पदाधिकारी कहा गया है।[6] इसी अभिलेख में बलाधिप यशोदेव का भी उल्लेख हुआ है।[7] झवर से प्राप्त एक अभिलेख में बलाधिप सौल(की) जस (धवल) का उल्लेख हुआ है।[8] 'लेखपद्धति' बलाधिकृत पद पर प्रभूत प्रकाश डालती है। इसमें उसे पचकुलो के साथ मण्डपिका का अधिकारी कहा गया है।[9]

अन्य पदाधिकारी

'समराइच्चकहा' में महायुद्धपति को शस्त्रागार का पदाधिकारी बताया गया है[10] पीलुपति और अश्वपति क्रमश गजसेना और अश्व सेना के अधि-

1 हर्षचरित, पृ 124 और 204, तिलकमन्जरी, पृ 97
2 एच आई जी, 2, न 120
3 उपमितिभवप्रपन्चकथा, पृ 243
4. इ आई, 14, पृ 176-188
5 वही, 1, पृ 159
6 वही, 11, पृ 30
7 वही।
8 जे पी ए एस बी, 12, पृ 102
9 लेखपद्धति, पृ 14
10 समराइच्चकहा, पृ 898

कारी थे। पूर्वमध्यकाल में गजबल और अश्व बल का अत्यधिक महत्व था। चाहमान अभिलेखों में नाडोल राज्य को (सप्तशत भूमि) घोड़ों की खान कहा गया है।[1] यद्यपि इस युग में स्यन्दपति का उल्लेख प्राप्त होता है, तथापि सम्भवतः अब रथ बल का अधिक महत्व नहीं रह गया था। एक अन्य पदाधिकारी 'साधनिक' का भी उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। वह अश्वदल की एक टुकड़ी का नायक होता था।[2] पैदल सेना का अधिकारी 'पायकाधिपति' होता था। मरु भूमि में सेना के ऊटों का भी प्रयोग होता था। 'पृथ्वीराज-विजय' से ज्ञात होता है कि गौड़पुर के विरुद्ध अभियान में पृथ्वीराज ने ऊटों का प्रयोग किया था।[3] दुर्ग का प्रधान कोटपाल कहलाता था। दशरथ शर्मा ने इसे कोतवाल पदनाम का पूर्व रूप माना है। अल्ल अपने पिता के बाद मर्यादाधुर्य के पद पर नियुक्त हुआ था। उसे ग्वालियर के *दुर्ग की देखभाल का कार्य सौंपा गया था।*[4] कोटवाल चण्डियन ने अपने स्वामी गुणराज के लिए लड़ते हुए मधुवेणी के निकट जीवन लीला समाप्त की थी।[5] वैलभट्ट स्वामी के अभिलेख में भी मर्यादाधुर्य का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे राज्य की सीमा सुरक्षा के लिए नियुक्त किया जाता था।[6] दशरथ शर्मा ने उसे मौर्यकालीन अन्त पाल के समान माना है।[7] कभी कभी सीमा की रक्षा का भार सामन्तों को सौंप दिया जाता था। इसके समर्थन में गुणचन्द्र के तेरही लेख सौराष्ट्र के चालुक्य बलवर्मा के अभिलेखों का प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है।[8]

सैनिकों की पोशाक व अस्त्र शस्त्रों के सम्बन्ध में अभिलेख सामान्यतया मौन हैं, परन्तु जिनेश्वर के 'कथाकोष' और सोमदेव कृत 'यशस्तिलकचम्पू' के अनुसार सैनिक घुटनों तक लटकती हुई धोती पहनते थे तथा पीठ पर तरकश धारण करते थे। बहुत कम सैनिक कवच पहनते थे। घुड़सवारों के पास भाला, तलवार और ढाल रहती थी। गुप्तचर्या की व्यवस्था भी रहती थी। 'ललितविग्रहराज' नाटक में इसका विवरण प्राप्त होता है।

---

1 द्र ओझा दानपत्र, अ चौ डा, पृ, 207-216
2 तिलकमन्जरी, पृ, 150
3 पृथ्वीराजविजय 10, पृ 20
4 इ आई, 1, पृ 159
5 वही, 17, पृ 207
6 वही, 1, पृ 156
7 रा अ॰ ए, पृ 336
8 वही, पाद टिप्पणी, 2

राजा को कभी कभी दीर्घकाल तक राजधानी से दूर अपनी सेना के साथ शिविर म रहना पडता था ।[1] कुमारपाल के चित्तौड से प्राप्त एक अभिलेख मे कहा गया है कि जब उसने शाकम्भरी के राजा को हरा दिया और सपादलक्ष का मर्दन कर दिया तब वह शालिपुर नामक स्थान पर गया और अपना शिविर डाला । ऐसे शिविरों या स्कन्धावारो का विस्तृत विवरण माघ के 'शिशुपालवध' मे प्राप्त होता है । राजा का तम्बू बीच मे रहता था । शिविर के साथ बाजार की व्यवस्था होती थी जिसमे सभी आवश्यक वस्तुए उपलब्ध हो जाती थी । व्यापारी वर्ग सैनिकों को अनेक सुविधाए प्रदान करता था ।[2] सामन्त और उच्च पदाधिकारी वहा पत्निया सहित रहते थे । अन्य पदाधिकारियो के खेमे इनके चारो ओर होते थे । कुछ दूरी पर गणिकाओ के तम्बू होते थे । सैनिक साज सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने-ले जाने के लिये अधिकाशत बैलगाडियो का प्रयोग होता था ।

पूर्वमध्यकालीन सैन्य प्रबन्ध मे दुर्गों का विशेष महत्व था । राजपूत राजा दुर्ग और गढ बनवाने मे पूरी रुचि लेते थे । प्रतिहार नरेशो ने दुर्गों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया । जालौर, मण्डोर और ग्वालियर के दुर्ग इसके प्रमाण हैं । विचाराधीन काल म तारागढ हासी, सिरजा, समाना, नागौर, सिवाना, जालौर, नाडोल, चित्तौड इत्यादि म सुदृढ किले थे । ये अधिकाशत पहाडियो पर बनाये गये थे और इनके चारो ओर खाइयाँ व यथा सम्भव घने जगल हुआ करते थे । इन्हें विस्तृत भू भाग पर बनाये जाता था जिससे इसम रसद और अन्न भण्डार, शस्त्र भण्डार, मन्दिर, तालाब, महल इत्यादि बनाये जा सकें ।

सुरक्षा व्यवस्था

राज्य की बाह्य सुरक्षा और आन्तरिक शाति सुव्यवस्था के लिए रक्षा विभाग का सगठन किया जाता था । इस विभाग के अधिकारियो मे दण्डपाशिक (चोरों को पकडने के लिए पाश धारण करने वाले), आरक्षिक (चौकीदार या रक्षक), दाण्डिक (दण्ड देने वाले) और तलार[3] प्रमुख थे । त्रिविक्रम और हेमचन्द्र ने तलार को नगर पुराध्यक्ष या नगराध्यक्ष माना है,[4] परन्तु डी आर भाण्डारकर उसे 'ताल' शब्द के अर्थ के आधार पर नगर

---

1 इ आई , 2, पृ 422
2 शिशुपालवध, श्लोक 13-27
3 आई ए , 46, पृ 12
4. इ आई , 11, पृ. 47

के बाहरी क्षेत्र का अधिकारी बताते हैं।[1] किन्तु भाण्डारकर के मत को स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि माणिक्यसूरि कृत 'पृथ्वीचन्द्रसूरि' नामक समसामयिक ग्रथ मे तलार का पुलिस अधिकारी रूप मे वर्णन है। वह चोरो को पकडने के लिए रात्रि मे गस्त लगाता था।[2] इस सेवा के बदले उसे नगर की आय से वेतन दिये जाने की व्यवस्था थी। उसे तलाराभाव्य कहते थे।[3]

दण्डपाशिक राजकीय पदाधिकारी होता था जिसका मुख्य कर्तव्य अपराधो का पता लगाना, अपराधियो को पकडना, उनके विरुद्ध अभियोग लगाना और दण्ड के लिए न्यायालयो मे प्रस्तुत करना होता था। वह समाज विरोधी तत्वो तथा विदेशियो की गतिविधियो पर नियन्त्रण रखता था। वह गणिकाओ तथा उनके पास जाने वाले व्यक्तियो पर भी नजर रखता था। *रक्षा विभाग के अन्तर्गत गुप्तचरो की भी व्यवस्था थी।* गुप्तचर गावो, नगरो तथा दुर्गों की बस्तियो मे रह कर गुप्त रूप से वहा के निवासियो के आचरण की जानकारी रखते थे।[4]

सिद्धान्तत सामन्ती क्षेत्र व गावो मे सुरक्षा और शान्ति बनाये रखने का दायित्व सामन्त व स्वय ग्रामवासियो का होता था। वे स्वय अपराधो का पता लगाने और अपराधियो (यथा चोरो) को पकडने की व्यवस्था करते थे। इस सम्बन्ध मे नाडोल से प्राप्त वि स 1198 के एव अभिलेख से महत्वपूर्ण विवरण प्राप्त होता है।[5] इस अभिलेख के अनुसार धालोप गाव को 8 खण्डो (वार्डों) मे बाटा गया था। प्रत्येक खण्ड से दो प्रतिनिधियो का चयन होता था। इस पद्धति से सगठित समिति भाट, भट्टपुत्र, दौवारिक, कार्पटिक,[6] वणिजारक इत्यादि के माल की सुरक्षा का प्रबन्ध करती थी। चोरी होने पर समिति के सदस्य चोरो का पता लगाते थे। इसम उन्हे राज्य से धन, शस्त्र और चौकीदारो की सहायता प्राप्त होती थी। उल्लेखनीय है कि प्राचीनकाल मे यातायात के साधनो की कठिनाई के कारण जीवन सकट-पूर्ण था और चोर डाकुओ के आकस्मिक आक्रमणो के समय समुचित

1. द्र. जैन के सी , एन्शिएण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ 479, पाद टिप्पणी, 8
2. पृथ्वीचन्द्रचरित, पृ. 105 (जी ओ एस)
3. इ आई , 11, पृ 46
4. आई ए , 20, पृ, 210
5 इ आई , 11, पृ 40
6. आप्टे के अनुसार कार्पटिक का अर्थ तीर्थ पर्यटको के दल से है।

राजकीय सहायता उपलब्ध नही हो पाती थी । ऐसी स्थिति म ग्राम मुखिया चौकडिया[1] व्यवस्था के अन्तर्गत गाव की सुरक्षा का प्रबन्ध करते थे । नगरो व कस्बा मे भी नागरिको की समितिया होती थी। ये समितियें तलार (दे पीछे) की सहायता से नगर की सुरक्षा का प्रबन्ध करती थी ।

न्याय व्यवस्था

अभिलेखो मे न्याय सम्बन्धी विवरण प्राय नगण्य है । समकालीन साहित्यिक वर्णन से प्रतीत होता है कि चोरी, धान्य अपहरण, धोखा देना इत्यादि की गणना गम्भीर अपराधो मे की जाती थी । इसके लिए अग भग जैसे दण्ड देने की व्यवस्था थी ।[2] सत्य परीक्षण के लिए कई कसौटिया थी जिनमे अग्नि-परीक्षा प्रमुख थी ।[3] कुछ अपराधो के लिए अभियुक्तो को कारावास की कठोर यातना भुगतनी पडती थी। हरिभद्रसूरि ने कारागृह का वर्णन नरक के समान किया है जिसमे बन्दियो का जीवन अत्यन्त कष्टमय होता था ।[4] किन्तु अधिकतर अपराधो के लिए अर्थदण्ड दिये जाने की व्यवस्था थी। अन्य प्रदेशो के समान राजस्थान के अभिलेखो मे भी 'दशापराध' का उल्लेख हुआ है । इन अपराधो पर लगाया गया अर्थदण्ड राजकीय आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत था ।

प्राचीन भारतीय राजतन्त्रात्मक व्यवस्था मे राजा सर्वोच्च न्यायाधिकारी था । उसके समक्ष अधीनस्थ न्यायालयो के निर्णयो के विरुद्ध अपील की जाती थी। नए अभियोग भी लगाए जाते थे। वह प्राय राजसभा मे बैठ कर न्याय करता था। न्याय करते समय वह विधि विशेषज्ञो, विद्वान पण्डितो और धर्माधिकारियो से विमर्श करता था। विचाराधीन काल म 'साधनिक' पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। दशरथ शर्मा ने इसकी तुलना आज के राजकीय अभियोजक से की है ।[5] इसका मुख्य कार्य न्यायालय मे धर्माधिकारी के समक्ष, दस्तावेजो और साक्षियो की सहायता से अभियोगी के अपराध को

1 अभिलेख म प्रयुक्त चौकडिका प्रवाह शब्द का तात्पर्य डी आर भाण्डारकर ने पचायत व्यवस्था माना है जबकि दशरथ शर्मा ने इसे डाकचौकी के धावको की व्यवस्था बताया है। पुलिस पहरेदारों के लिए आज भी चौकीदार शब्द का प्रयोग होता है। द्र अ चौ डा, पृ 234

2 बृहत्कथाकोप पृ 23, 63, 112-117, 126 138, 196 आदि

3 उपमितिभवप्रपचकहा, पृ 276

4 समराइच्चकहा, पृ 326-27

5 रा अ ए, पृ 342

प्रमाणित करना होता था।[1] फौजदारी मामलो मे अपने-अपने क्षेत्रो मे प्रारम्भिक जाच तलार, दण्डपाशिक और आरक्षक करते थे।

प्रथम भोज के वाडा ताम्रपत्र मे 'व्यवहारिन्' पदाधिकारी का उल्लेख हुआ है।[2] उसकी भूल से कालिजर मण्डल मे एक दानपत्र पर एक लम्बे काल तक कार्यवाही नही हो सकी थी।

गावो में स्थानीय मामले पचकुल तय करते थे। नगरो और कस्बो मे महाजन सभा तथा श्रेणियो जैसी सस्थाओ द्वारा स्थानीय झगडो का निपटारा किया जाता था। ये नगर सभाए नगर महतरो या नगर महल्लको से सहायता लेती थी। न्याय व्यवस्था सरल थी। निर्णय करते समय नैतिक बन्धन और मानव मूल्यो को प्राथमिकता दी जाती थी।

वि स 1218 के धौड अभिलेख मे एक घर के विक्रय से सम्बन्धित विवरण दिया गया है।[3] इस विक्रय पत्र के प्रारुप के अध्ययन से स्पष्ट है कि इसका रचयिता विधि का जानकार था। इस विक्रय पत्र मे घर की वस्तु स्थिति का विवरण है। यह भी निर्दिष्ठ किया गया है कि गृह-विक्रय म जिन सिक्को का प्रयोग हो उन्हें अच्छी प्रकार दिखाया जाय और वे प्रचलित सिक्के हो।

प्रादेशिक प्रशासन

प्रतिहार और चाहमान नरेश सिद्धान्ततः अपने-अपने साम्राज्यो के सर्व-सर्वा माने जाते थे। परन्तु ये साम्राज्य सामन्तवादी व्यवस्था पर आधृत थे। प्रतिहारो के प्रभावान्तर्गत शाकम्भरी के चाहमान, दिल्ली के तोमर, मेदपाट के गुहिल और महोबा के चन्देल जेसे शक्तिशाली सामन्त थे। चाहमान शासनकाल मे भी राजस्थान का बहुत बडा भूखण्ड सामन्तो द्वारा शासित था। 'तारीख-ए-फिरिश्ता' से ज्ञात होता है कि तृतीय पृथ्वीराज के 150 सामन्त थे।[4] इसी प्रकार बागड, जालौर और किराडू के शासक मालवा के परमारो के सामन्त थे। चौलुक्य शासनान्तर्गत नाडोल, जालौर, आबू इत्यादि सामन्ती क्षेत्र थे। राजस्थान मे विचाराधीन काल मे सामन्ती व्यवस्था का विशिष्ट स्थान था। अत हम इसका विवेचन आगे एक पृथक् अध्याय मे करेंगे।

---

1 बृहत्कथाकोष, पृ 126
2 इ आई, 19, पृ 17
3 वरदा, वर्ष 8, स 4, पृ 1-12
4. अ चौ डा, पृ. 94 पर उद्धृत

प्रतिहारो का साम्राज्य भुक्ति, मण्डल, विषय, पथक, चतुरशीतिका, द्वादशक इत्यादि इकाइयो मे विभाजित था। साम्राज्य की सबसे बडी इकाई भुक्ति होती थी। प्रतिहार अभिलेखो मे कान्यकुब्ज, श्रावस्ती इत्यादि भुक्तियो का उल्लेख हुआ है।[1] प्रत्येक भुक्ति अनेक मण्डलो मे विभाजित थी। मण्डल के शासक 'माण्डलिक' या 'मण्डलेश्वर' कहलाते थे। भोजदेव के बाडा और प्रथम महेन्द्रपाल के दिगहवा दुबौलि ताम्रपत्रो[2] से ज्ञात होता है कि 'मण्डल' से छोटी इकाई 'विषय' थी। शाकम्भरी क्षेत्र सभवत एक मण्डल था जिसका शासक माण्डलिक कहलाता था। वि स 1030 के हर्ष अभिलेख में चाहमान राज्य के पट्टवद्धक (सीकर जिले का पटौद) सरकोट्टा (मारोठ के निकट सरगोट का क्षेत्र) दरभवक्ष (ढाका, सीकर जिले मे) खटकूप (खाट क्षेत्र) इत्यादि विषयो का उल्लेख हुआ है।[3] वि स 1176 के सेवाडी ताम्रपत्र म सप्तशत विषयो का उल्लेख हुआ है।[4] विषय का सर्वोच्च अधिकारी 'विषयपति' या 'विषयी'[5] कहलाता था।

प्रतापगढ अभिलेख[6] से ज्ञात होता है कि 'विषय' 'पथक' और 'खेटक' इकाइयो मे विभाजित थे। इस अभिलेख मे दशपुर-पश्चिम पथक का उल्लेख है। इसमें खरपरपदरक गाव सम्मिलित था। चौलुक्य अभिलेखो मे भृगारिका चतुप पटि-पार्थक, तालमदरिका, पटतरिशत पथक, चालिसा पथक इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि 'पथक गावो का समूह होता था। इनमे ऐतिहासिक या प्रशासनिक कारणो से गावो की सख्या का कम या अधिक हो जाना स्वाभाविक था। एक प्रमुख गाव के नाम पर उस 'पथक' को सम्बोधित किया जाता था। वही गाव 'पथक' के प्रशासन का केन्द्र होता था।

राजस्थान मे, विशेषत मारवाड मे 84 गावो का क्षेत्र 'चौरसिया' कहा जाता था।[7] चाहमान काल म तूण कूपक द्वादशक (12 गावों का एक क्षेत्र) का उल्लेख वि स 1030 के हर्ष अभिलेख मे हुआ है।[8] वि स. 1218 के

1. इ आई, 19, पृ 17
2 जे बी बो आर ए एस,, 21, पृ 410
3 ई आई, 2, पृ 119
4 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 198
5, इ आई, 9, पृ 308
6 वही, 14, पृ 182
7 बी आई, पृ 205-7
8 इ आई, 2, पृ 119

नाडोल ताम्रपत्र मे भी 12 गावो का उल्लेख हुआ है।[1] कुछ अभिलेखो से एक मण्डल मे 12 'पथको' का होना भी ज्ञात होता है।[2]

कोट या दुर्ग की इकाई पृथक्त होती थी। दुर्ग के आस पास का भू भाग भी दुर्ग प्रशासन के अन्तर्गत होता था।[3] सामरिक दृष्टि से दुर्ग का अधिक महत्व था। वहा राज्य की ओर से 'कोटपाल' नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। सीमा पर स्थित दुर्गों के प्रशासन के लिए राजपरिवार के विश्वस्त सदस्यो को 'कोटपाल' पद पर नियुक्त किया जाता था। चाहमान काल मे हासी के दुर्ग पर द्वितीय पृथ्वीराज के मामा गुहिलोत केलहण को प्रशासक नियुक्त किया गया था।[4] इसके कुछ वर्ष बाद तृतीय पृथ्वीराज के भाई हरिराज को इसी पद पर नियुक्त किया गया था।[5]

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम होती थी। गाव के प्रशासन का कार्य मुख्य रूप से गाव का मुखिया करता था। हमारे अध्ययन काल के अभिलेखो व साहित्यिक ग्रन्थो मे उसका उल्लेख ग्रामणिक, ग्रामिक, ग्रामकूट, पट्टकिल, महाट्टक और महत्तर नामो से हुआ है।[6] गावा के समूह का अधिकारी 'ग्रामपति' कहलाता था। राजस्थान मे ग्रामपति को तलवरगिक नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। ब्राह्मणो को दान मे दिये जाने वाले गाव परम्परानुसार 'अग्रहार' कहलाते थे।[7]

परमारो का मालवदेश भी अनेक मण्डलो मे विभाजित था। 'मण्डल' विषयो तथा 'भागो' मे बटे होते थे। इनके प्रशासक क्रमश माण्डलिक, विषयपति और भोगपति कहलाते थे।[8] परमार अभिलेखो मे अनेक मण्डलो का उल्लेख हुआ है।[9] अभिलेखो से राजस्थान मे मरुमण्डल और अर्बुद मण्डल

1. वही, 9, पृ 66-70
2. रा अ्र ए, पृ 345
3 इ आई, 1, पृ 154-68
4 आई ए, 41, पृ 19
5 अ चौ डा, पृ *228* पाद टिप्पणी *61*
6 नाहर, पु च, जै ले स, 1, पृ 213, प्रबन्धचिंतामणी, पृ 98, इ आई, 14, पृ 187
7 रा अ्र ए, पृ 346
8 याज्ञवल्क्य ने मिताक्षरा मे 'भोग' के प्रशासक को 'भोगपति' लिखा है (5, श्लोक 380)
9, द परमारज, पृ 215

की स्थिति की भी जानकारी होती है।[1] विषय या भोग पुन विभिन्न 'पथको' मे विभाजित थे। 'पथक' मे अनेक नगर, कस्बे और ग्राम सम्मिलित होते थे। 'पथक' पुन अनेक प्रतिज्ञाग्रणको मे विभक्त थे।[2] प्रतिज्ञाग्रणको का उल्लेख वि स 1243 के रेवासा अभिलेख[3] मे तथा वि स 1226 के बिजोलिया अभिलेख[4] मे हुआ है। नागदा प्रतिज्ञाग्रणक का उल्लेख भी मिलता है।[5]

प्रतिहार शासनकाल म तत्कालीन अभिलेखो से तन्त्रपाल नामक पदाधिकारी के विषय मे सूचना प्राप्त होती है।[6] द्वितीय विग्रहराज के शासनकाल मे तन्त्रपाल का होना प्रमाणित है। तन्त्रपाल दहीक की नियुक्ति प्रथम महेन्द्रपाल ने की थी। उसने नक्षिस्वपुर के बलवर्मा और उसके पुत्र द्वितीय अवन्तिवर्मा के दानपत्रो पर हस्ताक्षर किये थे।[7] तन्त्रपाल माधव ने उज्जयिनी के मन्दिर मे दिये गये दानपत्र पर हस्ताक्षर किये थे। 'उपमितिभवप्रपच कथा' मे तन्त्रपाल सन्तोष को महिपति कहा है। उसे साहसी कूटनीतिज्ञ, राजनीति मे प्रवीण और सामरिक गुणो से सम्पन्न बताया गया है। स्पष्ट है कि प्रतिहार शासनान्तर्गत तन्त्रपाल विशिष्ट पदाधिकारी था। उसका प्रमुख कर्तव्य सामन्तो को नियन्त्रण म रखना और सीमावर्ती प्रदेशो मे अपने स्वामी के हितो का ध्यान रखना था। माधव तन्त्रपाल महादण्डनायक और महासामन्त उपाधियो से विभूषित था।[8] शाकम्भरी के चाहमान सामन्त शासक प्रथम वाक्पतिराज ने केन्द्र के आदेशो की अवहेलना की थी जिससे रुष्ट होकर तन्त्रपाल क्षमापाल ने उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की थी।[9]

हमारे अध्ययन काल के अभिलेखो मे इस सम्बन्ध मे सूचनाए नही दी गई हैं कि पथक चतुरशीतिका तथा द्वादशक का प्रशासनिक प्रबध

---

1 द्र इ आई, 9, पृ 13 और आई. ए, 51, पृ 136
2 प्रतिज्ञागणक अर्वाचीन परगनो के पूर्व रूप थे।
3. अ चौ डा, पृ 107
4 इ आई, 26, पृ 208
5 वही, 32, पृ 153
6 वही, 2, पृ 119, 14, पृ 176-183
7. एच आई जो, 1, स 234-235
8 इ आई 14, पृ 176-183, दशरथ शर्मा ने उसकी तुलना मुगल कालीन सिपहसालार या सूबेदार से की है। (रा अ ए, पृ 348)
9 वही, 2, पृ 119

किस प्रकार होता था और इनके पदाधिकारियो को किन पद नामा से सम्बोधित किया जाता था । महिपाल के शासनकाल म ग्रामपति, योगिक महतर कुटुम्बिक पचकुलीन दण्डपाशिक राजकीय पदाधिकारी होते थ । अनुमान किया जा सकता है कि राजस्थान म भी लगभग इसी प्रकार के राजकीय पदाधिकारी रहे होगे ।[1]

स्थानीय शासन

हमारे अध्ययन काल के अभिलेख स्थानीय प्रशासन पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं । इस युग म ग्राम, ग्रामसमूह और नगर-प्रशासन के सुचारु सचालन करने के लिए ग्राम सभा महाजन सभा तथा पचकुल जैसी स्थानीय और सार्वजनिक सस्थाए विद्यमान थी । राजस्थान के कतिपय अभिलेखो मे महाजन एव सामुदायिक सगठन का उल्लेख हुआ है । प्रशासनार्थ प्राय सभी बडे नगरो म महाजन सभा होती थी । गुप्तोत्तर काल से उस सस्था को प्रशासनान्तर्गत विशेष महत्व दिया जान लगा था । इसे कर लगाने का विशेषाधिकार प्राप्त था । नगर प्रशासक नया कर लगाते समय इसकी सहमति प्राप्त करता था । किन्तु ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब महाजन सभा ने राजा की स्वीकृति से नये कराधान किए थे । मेवाड के शासक शीलादित्य के वि स 703 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रेष्ठि जेतक ने अरण्यवासिनी देवी के मन्दिर का निर्माण करवाने के लिए महाजन सभा से स्वीकृति प्राप्त की थी ।[2] नाडूलडागिक की स्थानीय महाजन सभा ने ठाकुर राजदेव को महावीर चैत्य के प्रबन्ध के हेतु नये कर वसूल करने की अनुमति दी थी ।[3] एक अन्य अभिलेख के विवरणानुसार राजदेव ने महाजन सभा को साक्षी बनाकर आदिनाथ मदिर को एव विशोपक और दो पलिका तेल दान दिये जाने की व्यवस्था की थी ।[4] वि स 1190 के इगनौडा अभिलेख मे आषाढ शुक्ल एकादशी के अवसर पर गोहडेश्वर महादेव के मदिर की व्यवस्था के हेतु हिरण्य, भाग, भोग इत्यादि कर सहित ग्रागासिया गाव को भेंट किये जाने का उल्लेख है । इस अभिलेख से राज्य द्वारा दिए जाने वाले अनुदानो की सूचना गाव के समस्त महाजनो को दिये जाने की प्रथा भी सकेतित है । इस सस्था म प्राय सभी जातियो के प्रमुख और प्रभावशाली व्यक्ति सम्मिलित थे ।[5] नाडलाई अभिलेख के अनुसार चाहमान पत्तरा के पुत्र

1 रा भ्र ए, पृ 348
2 ना प्र प, 1, 3, पृ 311-14
3 नाहर, पू च, जै ले स. 1, पृ 213-14
4 वही, पृ 13
5 आई ए, 6, पृ 55-56

विसरा ने कलश के नाप से मोरकरा गाव के घाणक तेल का चतुर्थ भाग महावीर मन्दिर के निमित्त दिये जाने की व्यवस्था थी। इसकी साक्षी महाजन सभा के प्रतिनिधियो ने दी थी।[1] नाडलाई के एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि चाहमान वशीय रायपाल के दो पुत्र रुद्रपाल और अमृतपाल ने जैन साधुओ के लिए प्रति घाणी दो पलिका तेल दिये जाने की घोषणा की थी। इस कार्य मे ग्राम या महाजन सभा के प्रमुख सदस्यो की साक्षी ली गई थी जिनका अभिलेख मे नामोल्लेख है। इनसे ग्राम या महाजन सभा के सगठन पर भी प्रकाश पडता है। महाजन सभा के सदस्य विभिन्न जातियो और व्यवसायो से मनोनीत किए जाते थे। गाव से सम्बन्धित अत्यन्त साधारण व्यवस्था के लिए भी ग्राम सभा की अनुमति आवश्यक होती थी।[2] वि स 1233 के लालराई से प्राप्त अभिलेख मे प्रत्येक रहट मे उपज का कुछ भाग शान्तिनाथ की यात्रा निमित्त ग्राम पचकुल के समक्ष अनुदान रूप म दिए जाने का उल्लेख है।[3]

राज्य की ओर से महाजन सभा को जनप्रतिनिधि सस्था के रूप मे मान्यता प्राप्त थी। राज्य पदाधिकारी प्राय इनम उपस्थित रहते थे और इनके सदस्य के रूप मे गौरवान्वित होते थे। वि स 1172 के सेवाडी अभिलेख से ज्ञात होता है कि बलाधिप यशोदेव महाजन सभा और राजा द्वारा सम्मानित था।[4] उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाजन और ग्राम सभाए अत्यन्त प्रभावशाली प्रशासनिक सस्थाए थी। उनका स्थानीय शासन म विशिष्ठ स्थान होता था।

---

1 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 212-13

2 वही, इस सम्बन्ध म नाडलाई से प्राप्त वि स 1195 और 1198 के अभिलेख भी दृष्टव्य हैं। हमारे अध्ययन काल के तुरन्त पश्चात् के वि स 1352 के जूना अभिलेख के अनुसार सामन्तसिंह के अधिकारियो ने स्थानीय महाजन सभा की अनुमति से कुछ अनुदान दिया था (नाहर, पू च, जै ल स, 1, पृ 244)। इसी प्रकार इसके 19 वर्ष बाद वि स 1371 म अलाउद्दीन खिलजी द्वारा जालोर का घेरा डाले जाने पर महाजन सभा ने नगर की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति का आश्वासन दिया था और कान्हडदे को तुरुष्को से युद्ध जारी रखने की सलाह दी थी (कान्हडदे प्रबन्ध, 4, श्लोक 125-135)।

3 इ एाई, 11, पृ 49

4 नाहर, पू च, जै से स, 1, पृ 227

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखो से प्रतीत होता है कि उपर्युक्त सभाए ग्रामों और नगरो की महत्वपूर्ण सार्वजनिक सस्थाए थी जिनमे सभी वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व होता था। कार्यकुशलता के लिए ये सभाए कार्यकारिणी के रूप मे प्राय एक लघु समिति गठित करती थी। इस लघु समिति को 'पचकुल' की आख्या प्रदान की गई है। विशेष प्रयोजन के लिए अलग समिति का भी सगठन किया जाता था। इस पद्धति का एक उदाहरण महाराजाधिराज रायपाल के समय के वि स 1200 का नाडोल अभिलेख मे प्राप्त होता है। इस अभिलेख मे धालोप गाव के आठ खण्डो (वार्डों) म विभाजित किये जाने का उल्लेख है। प्रत्येक खण्ड से दो प्रतिनिधि मनोनीत किए गये थे। उनमे से एक को अध्यक्ष रूप में चुना गया था। इस समिति का कर्तव्य स्वक्षेत्र मे सुरक्षा का प्रबन्ध करना था।[1]

ग्राम अथवा नगर के सार्वजनिक कार्यों के सम्पादनार्थ पचकुल का एक कार्यकारिणी के रूप मे 'महत' नामक पदाधिकारी की अध्यक्षता मे होता था।[2] सामान्यत अध्यक्ष का नाम अभिलेखो मे उत्कीर्ण किया जाता था।[3] पचकुल को स्थूलत आधुनिक पचायत का प्रारम्भिक रूप माना जाता है। अभिलेखों मे और साहित्य मे प्रायः पचकुलिको के साथ तन्नियुक्तक[4] शब्द प्राप्त होता है। यथा सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृत की एक टीका मे 'करण' शब्द को पचकुल का परिचायक निर्देशित करके निम्नलिखित पाच सदस्यो का उल्लेख किया गया है—(1) आदायक (जो आय प्राप्त करे), (2) निबधक (जो लेखा जोखा रखे), (3) प्रतिबन्धक (मुद्रा अधिकारी), (4) नीवीग्राहक (वित्त सम्बन्धी अधिकारी) और (5) राज्याध्यक्ष (पचकुल का अध्यक्ष[5])। इस वर्णन के अनुसार पचकुल का एक सदस्य राज्याध्यक्ष भी होता था। सम्भवत वह राजा द्वारा मनोनीत किया जाता था। शनै शनै राजा का

1 इ आई, 11, पृ 39-41

2 वही, पृ 49, 50, 56 व 58

3 सिरोही अभिलेख मे अजारी गाव मे काकलेश्वर मन्दिर को पचकुल द्वारा, जिसमे जगददेव और अन्य लोग शामिल थे, कुछ रहट और द्रम्म दान दिये जाने का उल्लेख है। पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1910-11, पृ 39

4 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 248

5 चौधरी, गु च, पालिटिकल हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ 372

'पचकुलो' की नियुक्ति मे हस्तक्षेप बढता गया ।[1] पचकुल की सदस्य संख्या कभी-कभी पाच से भी अधिक होती थीं। सदस्यो को कहीं-कहीं 'वार' या 'वारिक' शब्द से भी सम्बोधित किया जाता था। 'वारिक' शब्द का सम्बन्ध इस समिति के सदस्यो के बारी-बारी से बदले जाने की पद्धति से लगता है। परमार कृष्णराज कालीन वि स. 1117 के भीनमाल अभिलेख मे धारकूट परिवार जेल के पुत्र विरणादित्य वारिक उसी वर्ष के लिए पचकुल का सदस्य बना था। इसका अर्थ यह हुआ कि भीनमाल मे कार्यकारिणी (पचकुल) के सदस्यो की प्रति वर्ष नियुक्ति होती थी ।[2] इसी स्थान से प्राप्त एक अन्य अभिलेख मे सदस्यो द्वारा दिए गए एक अनुदान का श्रेय भावी सदस्यो को दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समिति का सुनिश्चित समय पर पुनर्गठन हुआ करता था ।[3] किन्तु इनका कार्यकाल तय करना सम्भव नही है। सियोडनी से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति वि. स. 1024 मे 'वारिक' थे वे वि स. 1026 मे भी यथावत् बने रहे। इससे उनके कार्य के लम्बे काल का आभास होता है ।[4] उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि स्थानीय आवश्यकतानुसार पचकुल के सदस्यो की सख्या घटती बढती रहती थी और सम्भवत. निश्चित कार्यकाल का भी प्रावधान रहता था।

'वारिको' का एक पृथक् कार्यालय होता था जिन्हे 'स्थान' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यहा नगर प्रशासन सम्बन्धी सभी दस्तावेज सुरक्षित रखे जाते थे। पेहोआ अभिलेख से ज्ञात होता है कि पेहोआ नगरी के अश्व व्यवसायियो ने धर्म कार्य के लिये स्वेच्छा से अनुदान सग्रह का निश्चिय किया था। इस निर्णय सम्बन्धी परिपत्र की एक प्रति 'स्थान' मे

1. (अ) भीनमाल से प्राप्त वि. स. 1306 और 1336 के अभिलेखो से सकेतित है कि पंचकुल के सदस्यो की नियुक्ति राजा द्वारा ही होती थी।

   (आ) समराइच्चकहा मे सार्थवाह चन्दन के घर चोरी हो जाने पर राजा द्वारा पचकुल की नियुक्ति का उल्लेख है। इसी प्रकार मोहपराजय नाटक मे कुमारपाल द्वारा पचकुल को नियुक्त किए जाने का वर्णन है। (मोहपराजय, 3, पृ. 57)

2. बी. जी., 1, पृ. 472-73

3. वही, पृ. 80

4. इ. आई., 1, पृ. 154, 173 व 179

रखी गई जिससे भविष्य मे इसी के अनुसार चन्दा एकत्र किया जा सके ।[1] 'स्थान' के प्रबन्ध के लिए करणिक नामक एक पदाधिकारी (सचिव) नियुक्त किया जाता था ।[2] इस पदाधिकारी का कार्य नगर समिति के लेख पत्रो आदि को सुरक्षित रखना और समिति की ओर से आवश्यक पत्रादि लिखना था । उसके अधीन सम्भवत कई लिपिक रहते थे । 'कौष्तिक नामक कर्मचारी बाजार से कर वसूल करता था । यह कर नगर समिति की आय का बहुत बडा स्रोत था । कभी-कभी केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये गये करो की वसूली भी इस समिति के माध्यम से की जाती थी । 'प्रबन्धचिंतामणि' से ज्ञात होता है कि गुजरात मे 'बाहुलोदा' नगर का यात्रा कर, जो 12वी शताब्दी मे लगभग 72 लाख था नगर समिति द्वारा वसूल किया जाता था । हो सकता है राजस्थान मे भी यह कार्य नगर समितियो के माध्यम से किया जाता रहा हो ।

पचकुल सस्था का अधिकार-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था । नगर अथवा ग्राम में सुरक्षा और शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिये राजकीय पदाधिकारियो को सहयोग देना भी पचकुल का एक कतव्य होता था । साहित्य म चोरी का पता लगाना, लौकिक न्याय के आधार पर अपराधियो को दण्ड देना, परस्पर विवादो को निपटाना, छोटे मोटे मुकदम सुनना दान पत्रो को मान्यता प्रदान करना तथा उन्हे पजीकृत करना, व्यापारियो को व्यापार करने के लिए अनुमति या स्वीकृति पत्र देना, गाव मे खेतो का बटवारा करना इत्यादि अनेक कार्य पचकुल द्वारा किये जाने का उल्लेख मिलता है ।[3]

पचकुल के सदस्य मण्डपिका आय मे से कुछ धन दान दे सकते थे ।[4] घटियाला अभिलेख के अनुसार जिस मन्दिर की व्यवस्था पचकुल और गोष्ठी के सदस्य मिलकर करते थे वह सस्था भारक कहलाती थी ।[5]

पचकुलिक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति होते थे । उनम सैन्य शक्ति के सगठन की क्षमता की अपेक्षा की जाती थी । सपादलक्ष नरेश द्वारा गुजरात

---

1 वही, पृ 187

2 वही, पृ 118

3 समराइच्चकहा, पृ 30, 112, 170, बृहत्कथाकोश, पृ 30, 121, लेखपद्धति, पृ 8,9,10,12,16,19,33,50,57, घुरेटो शिलालेख, कार्पस, 8, पृ 373

4 प्राचीन जैन लेख सग्रह, स 319

5 वि स 918 का घटियाला अभिलेख, जे आर ए एस, 1895, पृ 516

पर आक्रमण किये जाने पर मूलराज ने पचकुल से सैनिक सहायता प्राप्त करना चाहा था।[1]

पचकुलादि की कार्य सचालन पद्धति से तत्कालीन प्रशासन मे प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का आभास मिलता है। 'कुवलयमाला' मे ग्राम महत्तरो और ज्येष्ठ महत्तरो का उल्लेख हुआ है। मायादित्य की कथा इसका प्रमाण मानी जा सकती है कि उक्त अधिकारियो का कार्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था और वे जीवन की विविध समस्याओ के समाधान के लिए सलाह देते थे।[2] इस कथा म मायादित्य नामक एक कपटी वणिक, जिसने अपने मित्रो के साथ अनेक बार विश्वासघात किया था, अग्नि म जलकर प्रायश्चित करने के लिये उत्सुक था। उसने ग्राम महत्तरो से सलाह ली। ज्येष्ठ महत्तर ने उसे गगा की धारा मे शरीर त्यागने की सलाह दी। अन्य महत्तरो ने भी इसका अनुमोदन किया। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रामो मे महत्तर और ज्येष्ठ महत्तर होते थे और उनकी सलाह स्वीकार की जाती थी।[3] वि स 1244 के वीरपुर दानपत्र म भी कहा गया है कि वह दान-पत्र महत्तम केल्हण और पचकुल की अनुमति से लिखा गया था।[4]

मण्डपिका

राजस्थान म कर सग्रह करने का कार्य मण्डपिका अथवा 'माडवी' द्वारा सम्पादित किया जाता था।[5] यह निश्चित नही है कि मण्डपिकाए राजकीय सस्थायें थीं अथवा अर्द्ध राजकीय सस्थायें। तत्कालीन अभिलेखो से इनके रूप पर पर्याप्त प्रकाश नही पडता। सम्भवत उक्त सस्थाए राजकीय निय-

---

1 प्रबन्धचिंतामणि, पृ 26, यद्यपि यह उदाहरण गुजरात से सम्बन्धित है तथापि इससे उस समय की व्यवस्था पर प्रकाश पडता है। उस काल मे गुजरात और राजस्थान की व्यवस्था में विशेष अन्तर नही था।

2 कुवलयमाला, पृ 63

3 वही

4 ओझा निबन्ध सग्रह, 2, पृ 197

5 बी एन. पुरी ने अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ गुर्जर प्रतिहार (पृ 113) मे मण्डपिका को नगर सभा भवन की सज्ञा दी है जहा पचकुल के सदस्य बैठ कर अपनी समस्याओ के सम्बन्ध मे विचार विमर्श किया करते थे। पुरी का यह कथन स्वीकार नही किया जा सकता। राजस्थान मे मण्डपिका शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से चु गी घर के अर्थ मे हुआ है। अभिलेखो के अध्ययन से यह प्राय निश्चित है कि मण्डपिकाओ के माध्यम से आयात व निर्यात शुल्क की वसूली की जाती थी।

अणान्तगत थी। मण्डपिका स्थानीय तथा सार्वजनिक सस्थाओं के लिए राज्य द्वारा निश्चित आयात निर्यात कर एकत्र करती थी। वे विभिन्न प्रशासनिक विभागो के लिए धन कोप निश्चित करती तथा एकत्र धन राशि का उचित बटवारा भी करती थी। मण्डपिकाए आभाव्यो की वसूली भी करती थी जो तलार, बलाधिप आदि स्थानीय पदाधिकारियो की सेवा के बदले मे वेतन स्वरूप दिये जाते थे।

नगर तथा ग्रामीण प्रशासन से सम्बन्धित पट्टकिल (वर्तमान पटेल)[1], बलाधिप (सैनिक अधिकारी मण्डपिका की देखभाल के लिए नियुक्त)[2], तलार (नगर कोतवाल)[3], सेलहथ (ग्रामीण क्षेत्र का अधिकारी)[4], रक्षा कर (ग्राम या नगर चौकीदार)[5] पारिग्राहिन् (पेशकार)[6] कोटपाल (दुर्ग का अधिकारी) इत्यादि राजकीय पदाधिकारियो का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। किन्तु सन्दर्भों से यह स्पष्ट नही है कि पचकुल, महाजन सभा अथवा ग्राम सभा और उक्त राजकीय पदाधिकारियो मे परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध था। अनुमानत. इनमे सहयोग की भावना थी और उनके पारस्परिक सहयोग से ही स्थानीय प्रशासन काय सचालित होता था।

महाजन सभा व पचकुल के अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायो से सम्बन्धित श्रेणियो का अस्तित्व भी था। श्रेणियाँ स्वक्षेत्र मे कार्य करने वालो को आर्थिक सहायता प्रदान करती थी तथा उद्योग धन्धो की व्यवस्था करती थी। ये स्वय अपने नियम बनाती थी और उनका पालन करती थी। राज्य की ओर से उन्हें मान्यता प्राप्त रहती थी। इस विषय मे आर्थिक व्यवस्था विषयक अध्याय मे विचार किया गया है।

---

1 इ आई, 11, पृ 308
2 जे पी ए एस बी, 12, पृ 102
3 ई इ आई, 11, पृ 47
4 वही, पृ 59, *कान्हडदेप्रबन्ध, 4, 40*
5 वही, पृ 40
6 वही, 26, पृ 80

धार्मिक जीवन

भारतीय वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे धर्म की सर्वदा सर्वाधिक महत्ता रही है। 700 से 1200 ई. के राजस्थान का जनजीवन भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नही था। देश के इस भाग से प्राप्त अभिलेखो से स्पष्ट है कि यहा प्रमुखत. पौराणिक धर्म का प्रचलन था। मन्दिर, मूर्ति-प्रतिष्ठा एव आराधना, देवभक्ति, अनुष्ठान, व्रत इत्यादि को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त थी। विचाराधीनकाल मे त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) भक्ति का तत्कालीन धार्मिक जीवन मे प्रमुख स्थान था। इनके अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, सूर्य इत्यादि अन्य पौराणिक देवताओ एव शक्ति के विवध रूपो को भी आराधना प्रचलित थी। पूर्वगामी युगों के समान इस काल मे लक्ष्मी विष्णु अर्द्धांगिनी तथा पार्वती शिव-भार्या के रूप मे आराध्या थी। वाग्देवी सरस्वती की भी पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। शक्ति की चण्डी, अम्बिका, भद्रा, काली, कात्यायिनी आदि रूपो मे उपासना भी जन प्रचलित थी। विष्णु के साथ उनके दशावतारो की पूजा भी की जाती थी। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिह, राम, कृष्ण आदि प्रमुख अवतारो का उल्लेख तत्कालीन अभिलेखो मे उपलब्ध है। हमारे अध्ययन काल मे सभी वर्गों के लोगो द्वारा लोककल्याण के लिये कार्य करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। यह विचार प्रचलित था कि शुद्धचित्त से कुए, मन्दिर, जलाशय इत्यादि बनवाने वाले ब्रह्मलोक मे स्थान पाते हैं। फलत इस काल में यज्ञ धर्म के स्थान पर पूर्तधर्म को अधिक महत्व दिया जाने लगा था।

यद्यपि पूर्वमध्यकालीन अभिलेखो मे विभिन्न देवी-देवताओ और तत्सम्बन्धी सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है। तथापि इस विविधता मे एकता की भावना भी विद्यमान थी। सामान्यतया यह माना जाता था कि विभिन्न देवी-देवता पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र है तथा ईश्वर अथवा परम सत्य की प्राप्ति अनेक मार्गो द्वारा सम्भव है। सभी मार्ग परमार्थ सत्ता की सम्प्राप्ति मे सहायक है। इस दृष्टिकोण से सास्कृतिक और धार्मिक समन्वय तथा सहिष्णुता की भावना को बल मिला।

विचाराधीनकाल मे धार्मिक सहिष्णुता को राजकीय समर्थन भी प्राप्त होता रहा। एक ही वश के विभिन्न राजा विभिन्न देवी-देवताओ की आराधना करते थे। प्रतिहार शासक देवशक्ति, वत्सराज, द्वितीय नागभट, रामभद्र, प्रथम महेन्द्रपाल, विनायकपाल और द्वितीय महेन्द्रपाल क्रमश विष्णु, महेश्वर, भगवती, आदित्य, भगवती, आदित्य और महेश्वर के उपासक थे,[1] परन्तु इन

1. इ. आई., 14, पृ. 182

नरेशो ने सभी देवी-देवताओ को एक ही परमेश्वर के विभिन्न विग्रहो के रूप मे ही अगीकृत किया था। प्रथम भोज यद्यपि भगवती का भक्त था तथापि उसने अपने अन्त पुर म नरकद्विप (विष्णु) के मन्दिर का श्रद्धासहित निर्माण करवाया था।[1] द्वितीय महेन्द्रपाल ने शैव होते हुए भी वटयक्षिणी देवी के मन्दिर के निर्वाह के लिए खरपरपद्रक ग्राम दान दिया था।[2] उसके महासामन्त और प्रान्तीय शासक माधव ने इन्द्रादित्य के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था। उसने इस मन्दिर के दैनिक व्यय के लिए भी एक ग्राम दान रूप मे देने की घोषणा की थी।[3] उल्लेखनीय है कि इसी के निकट नित्यप्रमोदित्यदेव का मन्दिर भी स्थित था। इन मन्दिरो की व्यवस्था करने के लिए एक पाशुपत मतावलम्बी व्यक्ति को नियुक्त किया गया था।[4]

हमारे अध्ययन काल मे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की मूर्तियो का एक ही स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाना और उनकी एक साथ पूजा अत्यन्त सामान्य बातें थी। इसके अतिरिक्त अनेक देवी-देवताओ की मूर्तियो की प्रतिष्ठा एक ही मन्दिर मे की जाती थी जिससे सभी देवताओ के आराधक पूजा हेतु एक स्थान पर एकत्र हो सकें। हमारे अध्ययनकाल मे सहतिवादी प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि सूर्य, ब्रह्मा, शिव विष्णु आदि देवताओ का एकत्व व्यक्त करने वाली प्रतिमाए निर्मित की जाती थी। भवाल, रणपुर, ओसिया, हर्षनाथ तथा किराडू से प्राप्त मूर्तिया इसका प्रमाण है। हर्षनाथ का मन्दिर मुख्यत शैव मन्दिर था परन्तु उसमे सूर्य, ब्रह्मा, शिव और विष्णु की सयुक्त प्रतिमा उपलब्ध है। इसके मध्य विष्णु और सूर्य के सामान्य मुकुट हैं और दोनो तरफ जटायुक्त मुकुट जो शिव और ब्रह्मा के परिचायक हैं। इसके हाथो मे पृथक पृथक त्रिशूल और सर्प (शिव परिचायक), चक्र और शख (विष्णु परिचायक) और पुस्तक तथा कमण्डल (ब्रह्मा परिचायक) है।[5] सूर्य को सभी देवताओ के समाहित रूप मे प्रयुक्त किया जाता था। भावल, रणपुर, किराडू, ओसिया इत्यादि स्थानो पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सूर्य के उक्त रूप को प्रकट करने वाली प्रतिमाए उपलब्ध हुई हैं। बाडोली और अजमर म पितामह हरिहर अर्थात् ब्रह्मा विष्णु और महेश को एक रूप म प्रकट करने वाली मूर्तिया प्राप्त हुई हैं।[6] ओसिया के दो पचायतन मन्दिरो मे हरिहर

1 वही, 18, पृ 99-114
2 वही, 14, पृ 187
3 वही।
4 वही।
5 रा अ ए, पृ 367
6 वही, पृ 368

की प्रतिमाए उपलब्ध है ।[1] इन प्रतिमाओ का अर्द्ध भाग विष्णु है और अर्द्ध भाग शिव । बेदला की हरिहर प्रतिमा मे देवता को एक हाथ मे चक्र और दूसरे म त्रिशूल धारण किए हुए प्रदर्शित किया गया है ।[2] इसी प्रकार की एक प्रतिमा जगत से भी उपलब्ध हुई है ।[3]

विचाराधीनकाल मे सहतिवादी भावना का प्रमाण तत्कालीन तीर्थस्थलो से भी प्राप्त होता है । तीर्थस्थानो पर प्राय सभी प्रमुख देवी-देवताओ के मन्दिर होते थे । उदाहरणस्वरूप 'पृथ्वीराज विजय' का पुष्कर तीर्थ सम्बन्धी विवरण उल्लेखनीय है । तदनुसार यद्यपि पुष्कर ब्रह्मा की तपोभूमि माना जाता था तथापि वहा विष्णु और शिव के मन्दिर भी थे । चाहमान शासको ने पुष्कर झील के तट पर अनेक शिव-मन्दिरो का निर्माण करवाया था ।[4] यहा भगवान् विष्णु के वराहरूप की पूजा भी लोकप्रिय थी ।

उद्योतनसूरि कृत 'कुवलयमाला' से उस समय के कतिपय देवी-देवताओ के विवरण प्राप्त होते है । समुद्र यात्रा पर जाने वाले व्यापारी सकटग्रस्त हो जाने पर नारायण, हर, चण्डिका, दुर्गा, स्कन्द, रेवन्त, बुद्ध इत्यादि की प्रार्थना करते थे ।[5] पुत्र प्राप्ति हेतु लोग प्राय स्कन्द, गोविन्द, चन्द्र त्रिदशेन्द्र गजेन्द्र (गणेश), नगेन्द्र, अरविन्दनाथ (सूर्य), यक्ष इत्यादि की उपासना किया करते थे ।[6]

अब हम आभिलेखिक सामग्री के आधार पर प्रमुख देवी-देवताओ तथा सम्प्रदायो की धार्मिक प्रवृत्तियो का अध्ययन करेंगे ।

शैव धर्म

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान म शैव धर्म अत्यधिक लोकप्रिय था । अधिकाश प्रतिहार शासक व्यक्तिगत रूप से शैव थे पर अन्य धर्मों के प्रति अनुदार नही थे । दौलतपुरा ताम्रपत्र[7] म वत्सराज को 'परममाहेश्वर' कहा गया है । भोजदेव के वि स 1076 के बासवाडा ताम्रपत्र[8] का प्रारम्भ शिव

1 वही, पृ 367
2 वही ।
3 वही, पृ 368
4 पृथ्वीराजविजय, 1, 35-40, 5, 36-44 इत्यादि
5 कुवलयमाला, पृ 68
6 वही, पृ 14
7 इ भाई, 5, पृ. 211
8 वही, 11, पृ 182

स्तुति से होता है। द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ अभिलेख[1] म वत्सराज और द्वितीय महेन्द्रपाल को परममाहेश्वर कहा गया है। मण्डोर के प्रतिहार शासक भी शिवोपासक प्रतीत होते हैं। मण्डोर से प्राप्त वि स 742 के एक अभिलेख[2] का प्रारम्भ 'ओम् नम शिवाय' से होता है। बाउक के वि स 894 के मण्डोर अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि शिलुक ने सिद्धेश्वर महादेव के मन्दिर का निर्माण करवाया था। राजौर के मथनदेव ने अपनी माता लच्छुका के नाम पर लच्छुकेश्वर महादेव की मूर्ति की स्थापना करवाई थी।[4] मथनदेव का पिता सावट भी शिवोपासक था।[5] मेवाड अपने अनेक शैव मन्दिरो के कारण प्रसिद्ध था, यथा एकलिंग महादेव का मन्दिर। परम्परानुसार इस मन्दिर का निर्माण बप्पा रावल ने करवाया था।[6] मेवाड के गुहिल शासक पद्मसिंह द्वारा वर्तमान 'गोगुन्दा तहसील म 'नरसिंहपुरा' नामक गाव के वल्कलेश्वर महादेव के मन्दिर के हेतु तेलीवाडे से तेल दान किया गया था।[7] इसी प्रकार अजमेर सभाग के नासून से प्राप्त वि स 887 के एक अभिलेख[8] म ईशानभट्ट के शासनकाल म गोडास्वामी द्वारा शिव मूर्ति स्थापित किये जाने का उल्लेख है।

चाहमान शासको के शासनकाल मे भी शैवधर्म की प्रगति हुई। हर्ष अभिलेख[9] से ज्ञात होता है कि गूवक ने चाहमान कुलदेवता श्री हर्षदेव (हर्षनाथ) के मन्दिर का निर्माण करवाया था। सिंहराज ने इस मन्दिर के निमित्त कुछ गाव प्रदान किये थे। वाक्पति की माता रुद्राणी ने पुष्कर स्थित शिवलिंग पर प्रतिदिन एक सहस्र दीपो के दान की व्यवस्था की थी।[10] सिंहराज की भाति स्वय वाक्पतिराज भी शैव था। उसने पुष्कर मे शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया था जो तृतीय पृथ्वीराज के समय तक

1 वही, 14, पृ 182
2 एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ आर्क्योलोजिकल डिपार्टमेण्ट, जोधपुर 1934, पृ 5
3 इ आई, 18, पृ 95
4 वही, 3, पृ 263
5 रा अ ए, पृ 374
6 वही।
7 वरदा, 9, 1, पृ 55
8 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1920-21, पृ 56
9 इ आई, 2, पृ 119
10 पृथ्वीराजविजय, 5, 37

विद्यमान था।[1] अजयराज ने एक शिव मूर्ति की स्थापना की थी।[2] 'हरकेलिनाटक'[3] तथा 'पृथ्वीराजविजय'[4] के अनुसार चतुर्थ विग्रहराज शैव था। अलवर से प्राप्त वि स 1239 के एक अभिलेख मे रानी केलच्चदेवी द्वारा अनगसूदन शिव के मन्दिर का निर्माण करवाये जाने का उल्लेख है।[5] द्वितीय पृथ्वीराज की रानी सुहवादेवी ने मेवाड मे मेनाल स्थान पर सुहवेश्वर शिवालय का निर्माण करवाया था।[6]

शाकम्भरी के चाहमान शासको की भाति नाडोल, किराडू, जालौर व साचोर के चाहमानो की शाखाओ के शासको ने भी शैव धर्म को पर्याप्त प्रश्रय दिया। आशाराज के चण्डलेश्वर के मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसने त्रिपुरुष मन्दिर के निर्वाह के लिए एक ग्राम प्रदान किया था। इसके अतिरिक्त उसने अन्य शिव मन्दिर और धार्मिक आवास बनवाये थे।[7] आल्हण ने नाडोल म शिव मन्दिर बनवाया था।[8] नाडोल के दो चाहमान अभिलेखो मे शिव आस्पोलेश्वर अथवा आस्लेश्वर[9] और शिवजेन्द्र राजेश्वर[10] मन्दिरो के निर्माण का विवरण मिलता है। कतिपय अन्य अभिलेखो म पाली के अन्तर्गत आउवा के कामेश्वर महादेव[11] मन्दिर तथा नाडोल के सोमेश्वर शिवालय[12] का उल्लेख हुआ है।

जालौर के चाहमान शासक कीतिपाल की पुत्री रूदलदेवी तथा उदयसिंह ने जालौर म शैव मन्दिरों का निर्माण करवाया था।[13] मदनपुर के एक

---

1 वही, 5, 43
2 वही, 5 183
3 उल्लेखनीय है कि इस नाटक के अन्त मे भगवान शिव मनुष्य रूप मे प्रकट होकर चतुर्थ विग्रहराज को आशीर्वाद प्रदान करते हैं।
4 पृथ्वीराजविजय, 8, 55
5 सोमानी, रामवल्लभ, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, पृ 178
6 अ चौ डा, पृ 74 पाद टिप्पणी, 56
7 इ आई, 9 पृ 77
8 वही।
9 वही, 11, पृ 40
10 वही।
11. वही, 11, पृ 68-69
12 वही, पृ. 26
13 अ चौ डा, पृ 260

चाहमान अभिलेख में शिवमूर्ति स्थापना का उल्लेख हुआ है। प्रतीत होता है शिवराधना चन्द्रशेखर त्र्यम्बक त्रिपुरान्तक आदि नाम से की जाती थी।[1]

परमार शासकों ने भी शैव धर्म को राजाश्रय प्रदान किया था। सम्भवत उनके कुलदेवता शिव ही थे। चित्तौड़ के समिद्धेश्वर मन्दिर का निर्माण परमार नरेश भोज ने करवाया था।[2] शेरगढ़ के एक अभिलेख[3] की सूचनानुसार उदयादित्य ने भगवान् सोमनाथ के कोशवर्द्धन स्थित मन्दिर के लिए दान दिया था। आबू शाखा के परमार शासक देवराज के वि.स. 1059 के रोपी ताम्रपत्र[4] से ज्ञात होता है कि चन्द्रग्रहण के अवसर पर उसने सिद्धेश्वर मन्दिर के प्रमुख शैवाचार्य आउरकाचार्य को भूमि प्रदान की थी। धारावर्ष के वि स 1220 के कायदरा-अभिलेख[5] में केशेश्वर महादेव के मन्दिर का उल्लेख हुआ है। हाथल ताम्र अभिलेख में दोवोत्थान एकादशी को शैवधर्माचार्य भट्टारक वोसलउग्रदमके को भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। वि स 1212 के थकराडा अभिलेख[6] से ज्ञात होता है कि अनगपालदेव ने सिद्धेश्वर-मन्दिर के निमित्त एक हल भूमि दान की थी। परमारों की वागड शाखा के शासक धनिक ने उज्जैन के महाकाल मन्दिर के सन्निकट धनेश्वर मन्दिर का निर्माण करवाया था।[7] इसी प्रकार माण्डलिक नामक व्यक्ति ने पाशुलाखेटक (पाणहेरा) नामक स्थान पर मण्डलेश्वर महादेव के मन्दिर का निर्माण करवाया था।[8] माण्डलिक ने स्वपुण्यार्जन हेतु कुछ भूमि भी दान दी थी। चामुण्डराज भी शैव था। उसने मण्डलेश्वर मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया था। जालौर से प्राप्त वि स 1174 के एक अभिलेख[9] में परमार वीसल की रानी मेलरदेवी द्वारा सिन्धुराजेश्वर मन्दिर के लिए सुवर्णकलश अर्पित किए जाने का उल्लेख है।

चित्तौड से प्राप्त कुमारपाल चौलुक्य के एक अभिलेख का प्रारम्भ शिव स्तुति से हुआ है।[10] उसने वि स 1207 में समिद्धेश्वर मन्दिर के दर्शन किए थे और शिवालय के निर्वाहार्थ ग्राम दान किया था।

---

1 ए एस आर, 20 न 9, 10 11
2 ना प्र प, 3, पृ 1-18
3 इ आई, 23, पृ 135-36
4 वही, 22, पृ 196-198
5 आई ए, 56, पृ 51
6 वही, पृ 225
7 इ आई, 21, पृ 41
8 ए आर आर एम अजमेर 1916-17, पृ 2
9 आई ए, 42, पृ 41
10 इ आई, 2, पृ 422

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो से ज्ञात होता है कि राजाओ के अतिरिक्त प्रशासनिक अधिकारियो, धनाढ्यो एव सामान्य लोगो ने भी मदिर-निर्माण, मन्दिर पुनर्स स्कार और प्रतिमा स्थापन कार्य करवाये थे। झालरापाटन के वि स 1143 के एक अभिलेख[1] की सूचनानुसार परमार उदयादित्य के शासनकाल म तेलो पटेल जनक ने एक शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया था। उमने मन्दिर मे दीपदान के लिए चार पल तेल और एक मोदक प्रति वर्ष देने का सकल्प भी किया था। कुमारपाल चौलुक्य के एक चित्तौड अभिलेख[2] मे उसके दण्डनायक सज्जन द्वारा समिद्धेश्वर मन्दिर को एक घाणक तेल दिय जाने का उल्लेख हुआ है। किराडू से प्राप्त वि स 1235 के एक चाहमान अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि महाराजपुत्र मदन ब्रह्मदेव के शासनकाल म तेजपाल की पत्नी ने तुरुष्को द्वारा शिवालय प्रतिभा को खण्डित किये जाने के उपरान्त नई मूर्ति स्थापित करवाई थी। उक्त अभिलेख म यह भी सूचना प्राप्त होती है कि मदन ब्रह्मदेव ने पूजा के लिए दो विशोपक एव दीपदानार्थ तल दिय जाने की व्यवस्था भी की थी। वि स 1253 के बडा दीवडा (डूगरपुर) गाव के शिवालय-मूर्ति-अभिलेख के अनुसार द्वितीय भीमदेव के शासनकाल मे महत्तम एल्हा के पुत्र वैजा द्वारा नित्यप्रमादित्यदेव मन्दिर म मूर्ति स्थापित करवाई गई थी।[4]

कल्याणपुर से प्राप्त सातवीं शताब्दी के एक अभिलेख का प्रारम्भ भगवान शिव की स्तुति से होता है। तदुपरान्त सूचित किया गया है कि महाराज पदद्र के शासनान्तर्गत एक धर्म प्राण व्यक्ति ने पर्याप्त धनराशि व्यय करके वहा शिव-सदन का निर्माण करवाया था।[5] कदछी के समय (7वी 8वी शदी) के इसी स्थान से प्राप्त एक अभिलेख के प्रारम्भ मे शिव की स्तुति की गई है। अभिलेखानुसार वोणी नामक भद्र महिला ने एक शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसने मन्दिर के पुनर्संस्कारादि के निमित्त चालीस द्रम्म प्रदान किये थे।[6]

कतिपय शासका द्वारा महाशिवरात्रि पव पर दानादि धार्मिक कृत्य किये जाते थे। वि स 1172 के सेवाडी अभिलेख म चाहमान कटुकराज द्वारा

1 जे पी ए एस बी, 10, पृ 241-43
2 इ आई, 2, पृ 422
3 आई ए, 42, पृ 42
4 ओझा, गो ही, डूगरपुर राज्य का इतिहास, पृ 51
5 इ आई, 35, पृ 55
6 वह, पृ 57

शिल्पज्ञ थल्लक को शिवरात्रि के दिन 8 द्रम्म प्रति वर्ष दिये जाने की घोषणा का उल्लेख है।[1] किराडू से प्राप्त वि स 1209 के एक अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि आल्हणदेव ने शिवरात्रि को पशुवध निषेध का आदेश प्रज्ञापित किया था। इस आज्ञा का उल्लघन करने वाले साधारण नागरिक से पाच द्रम्म और राजसम्बन्धी से एक द्रम्म दण्ड लिये जाने की व्यवस्था की गई थी। उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शिवरात्रि पर्व का विशेष महत्त्व माना जाता था।

राजस्थान मे शिव की 'अर्धनारीश्वर' रूप मे भी उपासना की जाती थी। 'अर्धनारीश्वर' मूर्ति मे दक्षिणाग भगवान शिव का और वामाग शिवा (पार्वती) का होता है।[3] छोटी सादडी के वि स 547 के एक अभिलेख मे अर्धनारीश्वर का उल्लेख हुआ है।[4] खण्डेले से प्राप्त वि स 701 के अभिलेख[5] मे अर्धनारीश्वर-मन्दिर निर्मित किये जाने का उल्लेख है।

ताण्डव नृत्य मुद्रा मे शिव की द्विभुजी प्रतिमाए राजस्थान मे उपलब्ध हुई हैं। भगवान शिव और पार्वती की सयुक्त प्रतिमाए अजमेर और सीकर के सग्रहालयो म सरक्षित है। सीकर सग्रहालय मे सुरक्षित एक महत्वपूर्ण प्रतिमा म शिवपार्वती को आलिंगनबद्ध मुद्रा मे प्रदर्शित किया गया है।[6] बघेरा से शिव-पार्वती की अनेक मूर्तिया उपलब्ध हुई हैं। यहा से प्राप्त एक प्रतिमा म आलिंगनबद्ध शिव और उमा को नन्दी पर बैठे हुए दिखाया गया है। इस मुद्रा मे शिवपार्वती की खडी मूर्ति भी प्राप्त हुई है। योगीश्वर रूप मे भी शिव का तक्षण किया जाता था जैसा कि बघेरा से प्राप्त वि स 1232 के एक अभिलेख से सकेतिक है। उक्त मूर्ति चाहमान नरेश तृतीय पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय की प्रतीत होती है।[7] दुर्गगण के राज्यकाल म वापट ने झालरापाटन मे चतुर्मुख शिव के मन्दिर का निर्माण करवाया था।

हमारे अध्ययनकाल मे राजस्थान मे शैव मत के प्राय. सभी प्रमुख सम्प्रदाय विद्यमान थे यथा शैव सिद्धान्त, लकुलीश-पाशुपत, कापालिक और

1 वही, 11, पृ 30
2 वही, पृ 44
3 रा थ्रू ए, पृ 377
4 इ आई, 30, पृ 122
5 रिसर्चर, 2, पृ 17
6 रा थ्रू ए., पृ 376
7 वही।

कालमुख। इनमें लकुलीश पाशुपतमत का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है। विश्वम्भरशरण पाठक ने श्रीकण्ठ नामक 'व्यक्ति' को पाशुपत सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना है।[1] शैवागमों में इसकी पुष्टि होती है परन्तु इनमें श्रीकण्ठ की पहिचान शिव से की गई है। अभिलेखों में इस धर्म के प्रवर्तक और प्रथम आचार्य लकुलीश बताये गये हैं। सामान्यतया लकुलीश मतावलम्बी आचार्यों को पाशुपताचार्य कहा गया है। पुराणों में लकुलीश को भगवान शिव का अवतार बताया गया है।[2] लकुलीश के कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य चार शिष्य हुए जिनसे पाशुपत सम्प्रदाय की शाखा, प्रतिशाखाएं गोत्र इत्यादि बने। पाशुपत अनुयायी द्वैतवादी हैं। उन्होंने पांच सिद्धांतों को स्वीकार किया—(1) कार्य (2) कारण (3) योग (4) विधि और (5) दुखान्त। इन सिद्धान्तों (पदार्थों) को परवर्ती भाष्यकारों ने अपने-अपने विचारानुसार प्रतिपादित किया।[3]

लकुलीश मत के आचार्य यौगिक क्रियाओं में दक्ष माने जाते थे। सातवीं शताब्दी के झालरापाटन का वराह मूर्ति अभिलेख लकुलीश 'ईशानमुनि' का उल्लेख करता है।[4] प्रतिहार शासक भोज ने प्रभासराशि नामक पाशुपताचार्य को गोष्ठियों के निमित्त कुछ धन दिया था। इस तथ्य का उल्लेख हर्ष संवत् 299 के कामा अभिलेख में हुआ है। यह महत्वपूर्ण और विचारणीय तथ्य है कि चामुण्डा और विष्णु के मन्दिरों की व्यवस्था का दायित्व भी शैवाचार्य को सुपुर्द किया गया था।[5]

मेवाड़ में लकुलीश मत अत्यन्त लोकप्रिय था। एकलिंग मंदिर के मठाधीश राज्य में प्रभावशाली थे। परम्परागत मान्यतानुसार हारीतराशि नामक लकुलीश मुनि ने बप्पा को मेवाड़ राज्य प्राप्त करने में सहायता दी थी। वि स 1028 के एक एकलिंग-अभिलेख[6] में लकुलीश का उल्लेख अवतार के रूप में हुआ है। इस अभिलेख में कुशिक शाखा के कतिपय योगियों का नामोल्लेख है। वे शरीर पर भस्म लेपन करते, वल्कल वस्त्र धारण करते और जटाजूट रखते थे। अभिलेख के अन्त में सुपुजितराशि सद्योराशि, विनिश्चितराशि इत्यादि योगियों का उल्लेख हुआ है।

1 ना प्र प, 63, अ 3-4
2 वायुपुराण अध्याय 33, लिंग पुराण अध्याय 24
3. सोमानी, रामवल्लभ, ऐतिहासिक शोध संग्रह, पृ 127-40
4 ए एस आई, 2, पृ 266
5 इ आई, 24, पृ 331
6 वो आई, 2, पृ 69-72

पालडी से प्राप्त वि स 1173 के एक अभिलेख म लकुलीश की उत्पत्ति विषयक परम्परागत विवरण के अतिरिक्त उनके सम्प्रदायक आचार्यों के नाम भी प्राप्त होते हैं। पालडी के शिवालय का निर्माण वल्कल के एक शिष्य शिवभक्ति ने करवाया था।[1] चीरवा से प्राप्त वि स 1330 के अभिलेख मे एक योगी शिवराशि का उल्लेख हुआ है। उसे 'पाशुपततपस्विपति' कहा गया है।[2]

मेवाड के मेनाल और माण्डलगढ क्षेत्र मे पाशुपत मत के शिवालयो का विवरण मिलता है। लोहारी के भूतेश्वर शिवालय के वि स 1211 के एक अभिलेख मे पाशुपताचार्य विश्वेश्वर द्वारा सिद्धेश्वर मन्दिर के मण्डप निर्माण का विवरण है।[3] मेनाल मठ के वि स 1226 के एक अभिलेख के अनुसार ब्रह्ममुनि द्वारा शैव मठ का निर्माण करवाया गया था।[4] इसी प्रकार धौड क वि स 1229 के एक अभिलेख मे प्रभासराशि द्वारा शैव मठ बनवाये जाने का उल्लेख हुआ है।[5] प्रचलित धारणा है कि प्रारम्भ म मेनाल के आचार्य चाहमान शासको के राजगुरु होते थे। हमारे अध्ययनकाल के बाद भी यह क्षेत्र इस मत से अत्यधिक प्रभावित रहा जैसा कि यहा से प्राप्त 16वी शताब्दी तक के अभिलेखो से प्रमाणित है।

शेखावटी मे हर्षनाथ का शिवालय पाशुपत सम्प्रदाय का केन्द्र था। हर्षनाथ के वि स 1030 के अभिलेख मे अनन्तगोत्र के शैव साधुओ का उल्लेख हुआ है जो कुशिक शाखा से सम्बन्धित थे। अभिलेख की 22वी पक्ति मे गुरु विश्वरूप को 'पचार्थलाकुलाम्नाये बताया गया है। उपरान्त 'आजन्मब्रह्मचारी दिगमल वसन सयतात्मातपस्वी' अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। यह साधक की नग्नता की ओर सकेत है। अभिलेख म पाशुपतव्रत मे पूर्णत निष्ठावान अल्लट के एक शिष्य भावचोत का भी उल्लेख है।[6] नासून[7] और धानोप[8] अभिलेखो मे भी शैवाचार्यों की चर्चा है। अथूर्णा क्षेत्र के मण्डलेश्वर शिवालय मे परमार राजा चामुण्डराज द्वारा वि स 1136 मे

1 इ आई, 30 पृ 10
2 वियाना ओरियण्टल जर्नल 21, पृ 155-62
3 ए आर आर एम, अजमेर, 1923, प 1
4 वी वि, 1, पृ 389
5 ए आर आर एम, अजमेर, 1929, पृ 2
6 इ आई, 2, पृ 123
7 आई ए, 59, पृ 21
8 वही, 50, पृ 175

स्थापित लकुलीश प्रतिमा से प्रमाणित है कि इस क्षेत्र मे लकुलीश मत प्रचलित था।[1]

आबू के वि. सं. 1265 के एक अभिलेख मे एक पाशुपताचार्य का उल्लेख हुआ है। अभिलेख मे शान्ता ब्रह्मचारिणी का नामोल्लेख है।[2] इससे संकेतित है कि पाशुपत सम्प्रदाय की दीक्षा महिलाए भी लेती थी। शैवाचार्य कुट्का-चार्य की शिष्या वैरा का उल्लेख कल्याणपुर अभिलेख मे हुआ है।[3]

मारवाड के बाडमेर विषय के अन्तर्गत चौहटन शिवालय के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि 11 वी शताब्दी मे निर्मित एक लकुलीश मन्दिर का जीर्णोद्धार वि. स. 1365 मे हुआ था।[4] झालावाड विषय मे इन्द्रगढ से प्राप्त वि. स 767 के एक अभिलेख मे पाशुपत मत के योगी विनीत-राशि और दानराशि के नाम प्राप्त होते हैं।[5]

उपर्युक्त अभिलेखों के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि राजस्थान के कई भागो मे लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय लोकप्रिय था। इसकी पुष्टि साहित्यिक ग्रथो से भी होती है।[6]

लकुलीश की प्रतिमाओ मे शिव को पद्मासनासीन प्रदर्शित किया जाता है। उनके सिर के बाल घु घराले बनाये जाते हैं। उन्हे एक हाथ मे बिजोरा-फल तथा दूसरे मे लकुल धारण किए हुए दिखाया जाता है। लकुलीश ऊर्ध्वरेता थे, अतएव उनकी प्रतिमा पर लिंग स्पष्टत. बना रहता है। लकुलीश मन्दिर और शिव मन्दिर मे बहुत समानता होती है। अन्तर मात्र यह होता है कि लकुलीश मन्दिर मे मुख्य द्वार पर लकुलीश की मूर्ति होती है।

लकुलीश प्रतिमाओ मे कही-कही दो के स्थान पर चार हाथ प्रदर्शित होते हैं। इसके उदाहरण झालावाड-कोटा क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। कनसुवा के

---

1. ओझा, बासवाडा राज्य का इतिहास, पृ. 34
2. वरदा, 8, 1, पृ. 10
3. इ. आई., 35, पृ. 57
4. ओझा, गो. ही., जोधपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ 47
5. इ. आई., 32, पृ. 113
6. अभिलेखों मे वर्णित आचार्यों के अतिरिक्त वामहध्वज नामक पाशुपताचार्य के ग्रन्थ मिले हैं। इनका विवेचन अगरचन्द नाहटा ने 'राजस्थान भारती' मे किया है। समकालीन जैन ग्रन्थो मे भी राजस्थान मे पाशुपत धर्म के प्रचलन का विवरण मिलता है।

लकुलीश मन्दिर म चतुर्भुज लकुलीश प्रतिमा उपलब्ध है।[1] बाडोली के शिवालय मे गन्धर्व किन्नरियो से युक्त चतुर्बाहु लकुलीश प्रतिमा मिली है। इनके अतिरिक्त लकुलीश की मूर्तिया अजमेर सग्रहालय, चित्तौड के सूर्य-मन्दिर, कुम्भश्याम के मन्दिर आदि स्थानो से भी प्राप्त हुई हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि हमारे अध्ययनकाल म राजस्थान के जन-जीवन को पाशुपत शैव धर्म ने अत्यधिक प्रभावित किया था। राजस्थान के विभिन्न भागो मे शैव साधुओ के रहने के व साधना करने के लिए मठ बने हुए थे। शिव मन्दिरो मे पूजा तथा अन्य आवश्यक व्यवस्था करने के लिए भी शैवाचार्यों को नियुक्त किया जाता था।[2]

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो मे कापालिको का अनेकत्र उल्लेख हुआ है। इनके इष्टदेव भैरव भगवान् शिव का रूप माने जाते हैं। साधारणत कापालिक वाममार्गी होते हैं। वे सुरापान, मासभक्षण इत्यादि करते हैं तथा सिर पर जटाजूट, गले म रुद्राक्ष माला शरीर पर श्मशान भस्म एव हाथ मे नरकपाल धारण करते थे।[3] धौड के वि स 1229 के सोमेश्वर अभिलेख के अनुसार भट्टारक प्रभासराशि ने नित्यप्रमोदित्य मन्दिर के निकट देश-विदेश से आए कपिल तपस्वियो के लिए एक मठ का निर्माण करवाया था।[4] कपिल का तात्पर्य कापालिक से है। शैव धर्मान्तर्गत कापालिक सम्प्रदाय वाममार्गी माना जाता है। इसमे भैरव की सन्तुष्टि हेतु सुरा और नरबलि का प्रचलन था। वे वीभत्स और क्रूर कर्मी होते थ और अपनी साधना प्रकृति तथा आचरण के कारण भयप्रद व असामाजिक माने जाते थे।[5]

---

1 उल्लेखनीय है कि मन्दिर म वि सं 795 का एक अभिलेख भी प्राप्त होता है।

2 इ. आई, 11, पृ 116

3 रामानुज (ब्रह्मसूत्र, 2,2,35-36 भाष्य) के विचारानुसार कापालिक छः मुद्रिकाओ द्वारा परम ब्रह्म का चिन्तन करके मुक्ति पाने मे विश्वास करते हैं। छः मुद्राए हैं– (1) कण्ठिका (2) रुचक (3) कुण्डल (4) शिखामणि (5) भस्म तथा (6) यज्ञोपवीत। इन्हे विधिवत् धारण करने से मानव आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

4 ए आर आर एम, अजमेर, 1929, पृ 2

5 बील, रेकार्ड्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ 55-56, भवभूति, मालतीमाधव, 5, सोड्ढल कृत उदयसुन्दरी कथा, पृ 61 और यशपाल कृत मोहपराजय, 4, 23

कालमुख मत के अनुयायी कापालिको के समान होते थे। वे उनसे भी अधिक अतिवादी होते थे। उन्हे 'शिव पुराण' मे 'महाव्रतधर' कहा गया है। यद्यपि अभिलेखो मे इनका उल्लेख नही मिलता तथापि अन्य साक्ष्य से स्पष्ट है कि शैव धर्मान्तर्गत यह सम्प्रदाय आलोच्यकाल मे प्रचलित था।

वैष्णव धर्म

हमारे अध्ययनकाल मे राजस्थान के शैव धर्म के समान वैष्णव अथवा भागवत धर्म को भी लोकप्रियता प्राप्त थी। वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार गुप्तकाल मे अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा था।[1] अधिकाश गुप्त शासको के अभिलेखो व मुद्राओ पर उन्हे 'परमभागवत' कहा गया है। उनका राज चिन्ह विष्णु-वाहन गरुड था।[2] वैष्णव धर्म का प्रभाव तत्कालीन स्थापत्य और साहित्य पर भी पडा। मौखरि-वर्द्धन युग मे राजाओ के प्राय. शैव होने के बावजूद वैष्णव धर्म का प्रवाह निर्बाध गति से चलता रहा।[3] पूर्वमध्यकाल मे भी वैष्णव धर्म की लोकप्रियता पूर्ववत् बनी रही। समसामयिक अभिलेखों, विशेषतः दानशासनो से सकेतित है कि राजस्थान मे अनेक वैष्णव देवालयो तथा विष्णु की विविध रूपी प्रतिमाओ का निर्माण होता था।[4]

हमारे अध्ययनकाल के वैष्णव अभिलेखो से विष्णु, उनके अवतारो तथा लोकप्रिय रूपो यथा नारायण, हरि, माधव, वासुदेव, कैटभरिपु, मुरारि, आदिवराह (वराह) इत्यादि विषयक सूचना प्राप्त होती है। अनेक अभिलेखो का प्रारम्भ 'नमोनारायणाय' अथवा 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' वैष्णव

1 द्र गोयल, एस. आर. ए. हिस्टरी ऑफ द इम्पीरियल गुप्तज, पृ. 135 अ

2. वही, पृ. 139

3. हर्षचरित, सर्ग, 8, पृ. 236

4 घोसुण्डी अभिलेख (इ. आई, 14, पृ. 25) से राजस्थान मे वैष्णव धर्म के प्रारम्भिक रूप का सकेत प्राप्त होता है। इस अभिलेख से सकर्षण-वासुदेव की मान्यता और वैदिक यज्ञो के प्रचलन पर प्रकाश पडता है। वि. स. 480 के गगधार अभिलेख (गु इ., पृ, 74-76) से ज्ञात होता है कि विश्ववर्मा के मत्री मयूराक्ष ने एक विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया था। छठी शताब्दी के चित्तौड के दो खण्डित अभिलेखो (इ आई, 34, पृ 55-57) मे मनोहर स्वामी अर्थात् विष्णु के मन्दिर का उल्लेख हुआ है। अपराजित के सातवी शताब्दी के अभिलेखानुसार (इ. आई, 4, पृ 31) वराहसिंह की पत्नी यशोमती ने कैटभरिपु (विष्णु) मन्दिर बनवाया था।

मन्त्रो से हुआ है । चाटसू प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गुहिल-नरेश बालादित्य ने मुरारि (विष्णु) का मन्दिर बनवाया था । मेवाड के गुहिलो की भांति चाटसू के गुहिल शासक प्रधानतया शिव और विष्णु भक्त थे ।[1] वि स 872 के एक बुचकला अभिलेख म विष्णु मूर्ति की स्थापना का सकेत है ।[2] बाउक के वि स 894 क जोधपुर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र मे विष्णु की उपासना लोकप्रिय था । अभिलेख का प्रारम्भ 'ॐ नमो विष्णवे मत्र मे होता है । अभिलेखकार भगवान् विष्णु को जगत् का सृष्टा और पालक कहता है । कामना की गई है कि निर्गुण और सगुण रूप विष्णु भक्तो की रक्षा करें ।[3] इससे प्रतीत होता है कि विष्णु की निर्गुण और सगुण दोनो रूपो मे आराधना की जाती थी । आहड स प्राप्त वि स. 1001 क आदिवराह अभिलेख मे विष्णु के अवतार आदिवराह की वन्दना की गई है और साथ ही विष्णु के लिए आदिवराह, जनार्दन कैटभरिपु आदि नामो का प्रयोग हुआ है ।[4] 'पाचरात्रावधि के उल्लेख से आहड क्षेत्र मे वैष्णव विचारधारा के प्रचलन का ज्ञान होता है । वि स 1003 के एक प्रतापगढ अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रतिहार शासक भोजदेव का पूर्वक देवशक्ति विष्णु का उपासक था । अभिलेख म उसे परमवैष्णव' कहा गया है ।[5] प्रतिहार कालीन दौलतपुरा ताम्रपत्र से इसकी सपुष्टि होती है ।[6] वि स 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति मे वराह मन्दिर से सम्बन्धित गोष्ठिको की नामतालिका दी गई है । इसमे मन्दिर के निर्वाह के लिये की गई समुचित व्यवस्था का भी उल्लेख है । इस देवालय मे वराहमूर्ति की स्थापना वि स 1010 मे की गई थी । गुहिल शासक अल्लट और उसके पिता दोनो 'वराह' अवतारोपासक थे ।[7] मण्डोर (जोधपुर) से प्राप्त दसवी शताब्दी के एक अभिलेख का प्रारम्भ 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' से हुआ है । अभिलेख की पाचवी पक्ति मे 'सदा भक्तश्च केशवे अभिव्यक्ति से इस क्षेत्र म विष्णु की उपासना का प्रमाण मिलता है ।[8] दसवी शताब्दी के कामा से प्राप्त एक अभिलेख मे कहा गया है

---

1 इ आई, 12, पृ 13-17
2 वही, 9, पृ 198-200
3 वही, 18, पृ 97
4 ए आर आर एम अजमेर, 1913-14, पृ 2
5 इ आई, 14, पृ 182
6 वही, 5, पृ 208
7 वी आई, 2, पृ 67-68
8 ए एस आई, 1909-10

कि शिव, विष्णु तथा चामुण्डा के मन्दिर के प्रबन्धक के रूप मे पाशुपत सम्प्रदाय के शैवाचार्य की नियुक्ति की गई थी।[1] वि स 1083 के नागदा अभिलेख का प्रारम्भ 'ॐ नमो पुरुषोत्तमाय' मन्त्र से हुआ है।[2] इससे प्रकट है कि मेवाड मे लकुलीश शैव और शाक्त धर्म के साथ साथ भागवत धर्म का भी प्रचलन था। कुमारपाल चौलुक्यकालीन एक चितौड अभिलेख के मगलाचरण मे वराह की स्तुति की गई है। इस अभिलेखानुसार कुमारपाल के एक पदाधिकारी सोमेश्वर ने चित्तौड मे वराह का मन्दिर निर्मित करवाया था तथा मन्दिर की व्यवस्था हेतु दूनाडा नामक ग्राम दान दिया था।[3]

गुप्त सम्राटो की भाति अधिकांश परमार शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। उन्होने गरुड को राजचिन्ह रूप मे अपनाया था।[4] परमारो की आबू शाखा का शासक पूर्णपाल विष्णु का अनन्य भक्त था। वि स 1181 के एक गिरवर अभिलेख का प्रारम्भ 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र से हुआ है। अभिलेख के द्वितीय श्लोक मे 'मुरारि' का उल्लेख हुआ है।[5] इसी प्रकार इस वश का राजा प्रतापसिह विष्णु भक्त प्रतीत होता है। उसके पटनारायण प्रस्तर अभिलेख मे पुरुषोत्तम की वन्दना की गई है।[6] इसी क्षेत्र म चन्द्रावती से वराहावतार की एक भव्य प्रतिमा मिली है।[7] पटनारायण देवालय से लगभग चार मील पूर्व मू गथला (सिरोही के निकटस्थ) मे मधुसूदन मन्दिर अवस्थित है। इससे वि स. 1245 का परमार धारावर्ष कालीन अभिलेख प्राप्त हुआ है।[8]

बारहवी शताब्दी के एक मण्डोर अभिलेख के मगलाचरण मे विष्णु तथा लक्ष्मी की वन्दना की गई है। इस अभिलेख मे चाहमान शासक सहजपाल द्वारा दान दिये जाने का वर्णन है।[9] इस वश का शासक अर्णोराज यद्यपि शैवधर्मानुयायी था तथापि उसने पुष्कर मे वराह का मन्दिर बनवाया था।[10]

---

1. इ. आई., 24, पृ. 329
2 वरदा, 6, 1, पृ. 5
3. ए. आर. आर एम. अजमेर, 1931
4. भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, पृ. 242
5 पी. आई. एच. सी., 1961, पृ. 62
6. आई. ए., 45, पृ 78
7. ए. एस. आई आर, 2, पृ. 269-70
8. ए एस. आई., 1906-07, पृ. 209
9. वही, 1909-10, पृ. 102-03
10. दे, प्रो सेवचरन ओन अजमर एण्ड दन आॅन पुष्कर, पृ. 136

बिजोलिया से प्राप्त वि स 1226 के एक अभिलेख से भी इस क्षेत्र मे वैष्णव धर्म का प्रभाव आभासित है।[1]

इस काल मे विष्णु तथा उनके अवतारो और लोकप्रिय रूपो की अनेक प्रतिमाए निर्मित हुई। मूर्ति निर्माण शास्त्रीय विधि तथा धार्मिक परम्परानुसार होता था। यथा चतुर्भुजी मूर्ति शख, चक्र, गदा और पद्म युक्त प्रदर्शित की जाती थी। ओसिया के एक मन्दिर के गर्भगृह से सभामण्डप की ओर निकले हुए दो स्तम्भो पर विष्णु की दो गरुडासीन चतुर्भुज प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं। इनमे से एक अपने हाथो मे शख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए है किन्तु दूसरी के दो हाथो म हल एव मूसल है, शेष दो हाथ खाली हैं। इनका मस्तक पन्चफणी सर्प से आच्छादित है। ये प्रतिमाए स्पष्टत. वासुदेव एव सकर्पण की हैं। स्थापत्य शैली की दृष्टि से यह मन्दिर नवी-दसवी शताब्दी का हो सकता है।[2]

डीडवाना मे विष्णु को योग मुद्रा म एक अत्यन्त भव्य मूर्ति उपलब्ध हुई है जिसमे निचले दो हाथ पर एक दूसरे पर रखे हैं और उपर के दो हाथो मे वैजयन्तीमाला है।[3] आठवी-नवी शती की शेषशायी विष्णु मूर्तिया कोटा और हर्षनाथ से प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार ग्यारहवी शती की विष्णु प्रतिमाए सम्प्रति राजपूताना सग्रहालय अजमेर मे विद्यमान हैं।[4] ग्यारहवी शती की एक खडी विष्णु मूर्ति बघरा से उपलब्ध हुई है।[5] इसी स्थान से गरुडासीन लक्ष्मीनारायण और विष्णु की मूर्तिया भी प्राप्त हुई हैं। चौदह हस्तयुक्त विष्णु मूर्ति विशेषत उल्लेखनीय है। आठ हाथो वाली त्रैलोक्य मोहन की एक ऐसी मूर्ति भी प्राप्त हुई है जिसके दाये हाथो मे चक्र, खड्ग, मूसल और परशु हैं तथा बायें हाथो मे शख, धनुष, गदा और पाश प्रदर्शित किये गये है। राजस्थान से विष्णु अवतारो मे वराह और नृसिह की प्रतिमाए अधिक सख्या मे मिलो हैं। त्रिमुख विष्णु को वराह और नृसिह रूपो मे प्रदर्शित किया है। त्रिमुख विष्णु की प्रतिमा हर्षनाथ के मन्दिर से प्राप्त हुई है।[7] आहड से प्राप्त ऊर्ध्वांकित शिल्प प्रतिमा मे मत्स्य और कूर्म अवतारो को प्रदर्शित किया गया है।[8]

---

1 इ. आई, 26, पृ 90
2. भाण्डारकर, आर जी, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 52
3. पी. आई एच सी, 1960, पृ 501
4 रा. अ. ए., पृ 369
5 वही।
6 रिसर्चर, 1, 1, पृ 25
7. यह सम्प्रति अब सीकर सग्रहालय मे रखी हुई है।
8. यह प्रतिमा अब उदयपुर के सग्रहायल मे रखी है।

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान मे कृष्णाराधना के प्रचलन के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है। कृष्ण लीलाओ का चित्रण मण्डोर से प्राप्त एक तक्षण पट्ट पर किया गया है।[1] अपराजित के वि स 1010 के अभिलेख से विदित होता है कि मेवाड म कृष्णोपासना प्रचलित थी।[2] बालादित्य के चाटसू अभिलेख से तत्सम्बन्धी सूचना मिलती है।[3] कामा (भरतपुर) और ओसियां (जोधपुर) से प्राप्त कलाकृतियों मे कृष्ण लीला का चित्रण है।[4] नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर म कृष्ण का दैत्या से युद्ध, पूतनावध, माखनचोरी, नन्द यशोदा द्वारा बलराम और कृष्ण को ले जाते हुए आदि दृश्यो का प्रदर्शन है।[5] किराडू और सादडी मे भी कृष्ण की प्रतिमाए उपलब्ध हुई हैं।[6]

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान से रामावतार की कोई प्रतिमा प्राप्त नही हुई है। परन्तु राम भक्ति के प्रचलन मे सन्देह नही किया जा सकता। तत्कालीन साहित्य से इसकी पुष्टि होती है। द्वितीय पृथ्वीराज और तृतीय पृथ्वीराज को राम का अवतार बताया गया है।[7] इसी प्रकार अन्य अवतारो के रूप में विष्णु भक्ति के प्रमाण मिलते हैं। बघेरा से प्राप्त एक दरवाजे के कोने पर मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिह और वामन अवतारो को प्रदर्शित किया गया है।[8] 'ललितविग्रहराज' नाटक मे विष्णु और उनके दस अवतार—कूर्म, मत्स्य, वराह, नृसिह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि की प्रार्थना है।[9]

समाज म वैष्णव धर्म सम्बन्धी समारोहो और त्यौहारो का प्रचलन था। अभिलेखो मे आषाढ शुक्ल एकादशी (देवशयन एकादशी) और कार्तिक शुक्ल एकादशी (देवोत्थान एकादशी)[10] के महत्व पर प्रकाश पडता है। इन तिथियो पर भूमि, कुए आदि के दान दिये जाने के उदाहरण मिलते हैं। अलबरूनी ने भी देवशयनी एकादशी, कृष्ण जन्माष्टमी, देवोत्थान एकादशी,

---

1 ए एस आई, 1905-06, पृ 135
2 इ आई, 4 पृ 29
3 वही, 12, पृ 13
4 रा अ ए, पृ 372
5 आई एच क्यू पृ 350
6 रा अ ए, पृ 373
7 अ चौ डा, पृ 259
8 रा अ ए, पृ 373
9 आई ए, 20, पृ 210
10 वही, 1941, पृ 193-94, ई आई, 13, पृ 208

रामनवमी, इत्यादि वैष्णव त्यौहारो का विवरण दिया है।[1] इसका समकालीन भारतीय साहित्य से भी समर्थन होता है।

ब्रह्मा

हमारे अध्ययनकाल मे राजस्थान मे यद्यपि विष्णु और शिव की तुलना म ब्रह्मा की लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम थी तथापि समसामयिक मन्दिरों तथा मूर्तियो से तत्सम्बन्धी जन अभिरूचि का सहज अनुमान होता है। पुष्कर ब्रह्मा की पवित्र तपोभूमि माना जाता है। प्राचीनकाल म यहा ब्रह्मा के मन्दिर थे। खेड (जोधपुर सभाग) मे भी ब्रह्मा का एक प्राचीन मन्दिर है।[2] बीठू (पाली जिला) मे सावित्री और ब्रह्मा के एक प्राचीन मन्दिर के भग्नावशेष विद्यमान है।[3] सातवी शताब्दी मे बसन्तगढ मे ब्रह्मा के एक मन्दिर का निर्माण हुआ था।[4] ओसिया,[5] सेवाडी[6] (दोनो जोधपुर सभाग मे) बसद[7] (प्रतापगढ) सिरोद[8] (कोटा) और बिजोलिया[9] (मेवाड) से ब्रह्मा की प्रतिमाए प्राप्त हुई है। अनुमानत इन नगरो म ब्रह्मा की उपासना की जाती थी। वि स 1239 के हरसोर से उपलब्ध एक अभिलेख से वहा ब्रह्मा के मन्दिर के होने का प्रमाण मिलता है।[10] नाडोल मे त्रिपुरुष का प्रसिद्ध मन्दिर था। चाहमान अभिलेखो मे राजाओ द्वारा इस मन्दिर को दिये गये दानो का उल्लेख हुआ है।[11]

ध्यानव्य है कि सामान्यतया ब्रह्मा की विशेष प्रतिष्ठा 'त्रिदेव' के एक सदस्य के रूप मे थी-स्वतत्र रूप मे नही। अर्थात ब्रह्मा की मूर्तिया प्राय विष्णु और शिव के साथ निर्मित होती थी। कुवलयमाला' मे यद्यपि विभिन्न देवी-देवताओ का नामोल्लेख हुआ है तथापि उसमे ब्रह्मा को सम्मिलित नही

---

1 ग्यारहवी शती का भारत, पृ 196
2 जैन, के सी , एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ 525
3 अ चौ डा, पृ 258
4 ए एस आर, 1906-07, पृ 175
5 वही, 1908, पृ 114
6 पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908, पृ 53
7 ओझा, गौ ही, प्रतापगढ राज्य का इतिहास, पृ 48
8 पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1905, पृ 47
9 वही, पृ 58
10 जैन, के सी , एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ 608
11 ए आर आर एम. अजमेर, 1937, पृ 6

किया गया है।[1] जिनेश्वर कृत 'कथाकोष' मे भी ब्रह्मा का उल्लेख केवल एक स्थान पर हुआ है।[2]

सूर्य—

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो से विदित होता है कि राजस्थान के तत्कालीन समाज मे सूर्य पूजा का भी प्रचलन था। तत्कालीन राजस्थान के प्राय सभी क्षेत्रों मे सूर्यदेव के मन्दिरो तथा प्रतिमाओ की उपलब्धि से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश के इस भाग मे सूर्योपासको की पर्याप्त सख्या रही होगी।[3] इस सन्दर्भ मे पिण्डवाडा से प्राप्त सूर्य की खडी मूर्ति, वासा का चक्र युक्त सूर्य-मन्दिर एव रोहरा, वितोरा, हनादर, झायल इत्यादि के सूर्य-मन्दिर विशेषत उल्लेखनीय हैं। बर्माण का सूर्य मन्दिर कला की दृष्टि से अत्यन्त भव्य था। वि स 1099 मे इस मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ था।[4] प्रतिहार शासक रामभद्र सूर्योपासक था। उसने अपने पुत्र का नाम मिहिर (सूर्य) भोज रखा था।[5]

वि स 898 मे चण्डमहासेन (सम्भवतः प्रतिहार शासक भोज का सामन्त) ने धौलपुर के निकट एक सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया था।[6] वि स 999 के प्रतापगढ अभिलेखानुसार[7] मेवाड नृपति तृतीय खुम्माण के पुत्र द्वितीय भर्तृपट्ट ने इन्द्रराजादित्यदेव सूर्य मन्दिर के निर्वाह निमित्त पल्लासकूपिका गाव का बबूलिका नामक भू-क्षेत्र भेंट किया था।[8] यही से प्राप्त एक अन्य अभिलेख[9] से ज्ञात होता है कि प्रतिहार सम्राट विनायक पाल सूर्योपासक था।

---

1 कुवलयमाला, 2, 14, 68, 149, 256

2 कथाकोष पृ 41

3 गौ ही ओझा के मतानुसार 600 से 1400 ई. के मध्य प्राचीन सिरोही क्षेत्र मे कोई ऐसा गाव नही था जहा सूर्य मन्दिर या सूर्य प्रतिमा नही थी (सिरोही राज्य का इतिहास, पृ 26)।

4 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1916-17, पृ 71-72

5 इ आई, 18, पृ 99-114

6 जेड डी एम जी, 40, पृ 38

7 इ आई., 14, पृ 187

8 इन्द्रराजादित्यदेव मन्दिर प्रतापगढ से 6 मील दूर घोटार्सी गाव मे था। इसका निर्माण द्वितीय महेन्द्रपाल के सामन्त चाहमान इन्द्रराज ने करवाया था।

9 इ आई, 14, पृ 182

भीनमाल सूर्योपासना का महत्वपूर्ण केन्द्र था । यहा का जगतस्वामी सूर्य-मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध था । भीनमाल से प्राप्त वि स 1117 के एक एक अभिलेख के मगलाचरण मे सूय-स्तुति की गई है ।[1] इस लेख की नवी और ग्यारहवी पक्तिया भी सूर्योपासना से सम्बन्धित हैं । जगतस्वामी मदिर के निमित्त एक ब्राह्मण ने वि स 1123 मे एक स्वर्ण कलश भेंट किया था ।[2] परमार शासक पूर्णपाल के काल म रानी लाहिणी ने बसन्तगढ के सूर्य मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया था ।[3] पोकरण स्थित बालकनाथ मदिर के कीर्ति स्तम्भ अभिलेख[4] का प्रारम्भ 'ॐ नम सूर्याय' से हुआ है । इसी मन्दिर के एक भाग पर स्थानक सूर्य मूर्तिया उत्कीर्ण है । इसकी मूर्ति मे भगवान् अशुमाली के हाथो मे कमल तथा घुटनो तक वनमाला लटक रही है । आमेर के वर्तमान सूर्य मन्दिर से प्राप्त वि स 1011 के एक अभिलेख से ग्यारहवी शती मे इस मन्दिर की स्थिति प्रमाणित होती है ।[5] शक्तिकुमार के वि स 1034 के आहड अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने मत्तट नामक अक्षपट्टलिक के अनुरोध पर सूर्य मन्दिर के लिए प्रति वर्ष 14 द्रम्म दान दिये जाने की आज्ञा दी थी ।[6]

चाहमान शासको ने भी सूर्योपासना को प्रोत्साहित किया था । सिहराज के काल मे दुर्गराज (स्थानीय प्रशासक) ने रणादित्य (सूर्य) की पूजा हेतु दान की व्यवस्था की थी ।[7] वि स 1013 में थावला (पुष्कर क्षेत्र म स्थित) के तथा सन्निकटीय लोगो ने भी उक्त मन्दिर के निमित्त दान दिया था ।[8] अल्हण और कीर्तिपाल शैव धर्मानुयायी होते हुए भी सूर्य देव की पूजा करते थे । कीर्तिपाल के वि स 1218 के एक अभिलेख के अनुसार उसने तमतोम विनाशक और सर्वपाप विमोचक भगवान रश्मिमाली की आराधना करने के पश्चात् दान दिया था ।[9] अल्हण के नाडोल से प्राप्त वि स 1218 के एक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उसने श्रावण शुक्ल महाचतुर्दशी के पव पर सूर्य की आराधना की थी ।[10]

1 बी जी , 1, पृ 472
2 वही, 1, पृ 473-74
3 इ आई , 9, पृ 14
4 शोध पत्रिका, 22, 2, पृ 67
5 रा अ ए, पृ 383
6 आई ए , 39, पृ 191
7 इ आई , 35, पृ 239
8 वही, पृ 244
9 वही, 9 पृ 68
10 वही, पृ 64

भारत मे कुषाणकाल से ही सूर्य मूर्तिया निर्मित होने लगी थी। विचाराधीनकाल मे राजस्थान से विभिन्न स्थानो से सूर्य अर्चाए उपलब्ध हुई हैं। ओसिया के सच्चियामाता मन्दिर के सन्निकट एकाकी मन्दिर के द्वार-बिम्ब पर चतुर्भुज सूर्य की पद्मासन मुद्रा मे एक मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमे देवता को उपरले दोनो हाथो से गले मे पडे एक सर्प को पकडे हुए प्रदर्शित किया गया है।[1] ओसिया से दो प्राचीन और देवालय स्थापत्य एव मूर्तिकला की श्रेष्ठता के परिचायक है।[2] ओसिया के सुप्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर की ताक मे रेवन्त अश्वारूढ दिखाए गए हैं। उनके साथ एक श्वान है तथा पीछे अनुचर हैं।[3] ओसिया से प्राप्त सूर्य प्रतिमाओ की वेषभूषा पर कुषाण कला का प्रभाव परिलक्षित होता है। यहा की एक सूर्य प्रतिमा म देवता को कुषाण वेशभूषा और घुटने तक जूते पहने हुए प्रदर्शित किया गया है। यहा सूर्य के पुत्र रेवन्त और शनि की मूर्तिया भी प्राप्त हुई हैं। मण्डोर की बावडी से प्राप्त वि स. 742 के एक पाषाण अभिलेख[4] मे शिवार्चना का उल्लेख है, परन्तु स्वय पाषाण पर सूर्य प्रतिमा का अक्न है। जोधपुर सभाग के बेडा, पोकरण किराडू, बीठू, पाली इत्यादि क्षेत्रो से भी सूर्य की अनेक मूर्तिया प्राप्त हुई हैं।[5] इसी प्रकार हर्षनाथ और बघेरा से भी सूर्य प्रतिमाए उपलब्ध हुई हैं। बघेरा से प्राप्त सूर्य की खडी मूर्ति वस्त्राच्छादित और आभूषणो से अलकृत है।[6] कला की दृष्टि से यह अत्युत्कृष्ट है।

सूर्योपासना नवग्रहो और नक्षत्रो से विशिष्टरूपेण सम्बन्धित है। अजमेर सग्रहालय मे एक ऐसा फलक है जिस पर सूर्य, चन्द्र, मगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु की प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं।[7] अढाई दिन के झोपडे के उत्खनन से प्राप्त एक प्रस्तर पट्ट पर सात नक्षत्र-मघा पूर्वा फाल्गुनी, उत्तर-फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति तथा विसाखा अकित हैं। साथ ही काल, प्रभात, प्रात, मध्याह्न, अपराह्न आदि का देव रूप मे अक्न किया गया है।[8] प्रतिमाओ पर इन सभी देवताओ के नाम भी अकित हैं।[9]

---

1 ए एस आर, 1909, पृ 110
2. वही, 1908, 09, पृ 101-115
3 वही, पृ 106
4 एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेण्ट, जोधपुर 1935, पृ 5
5 अ चौ डा पृ 265
6, रा अ ए, पृ 383
7 रिसर्चर, 1, पृ 20
8 वही, 2, पृ 12
9 इस फलक का बारहवी शती का माना जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में सूर्य पूजक काफी सख्या मे रहे होगे। सूर्य का सम्बन्ध अन्य प्रमुख देवताओं से भी था। उदाहरणस्वरूप शैव धर्म म सूर्य को शिव की अष्टमूर्तियों में से एक माना गया है। वैष्णव मत में उन्ह 'विष्णु त्रिविक्रम' कहा गया है। पुराणो म सूर्य विष्णु की दाई आख कहे गये हैं। 'साम्ब पुराण' म विष्णु को श्वेत द्वीप, महेश्वर को कुश द्वीप और सूय को शाक द्वीप में निवास करने वाला बताया गया है। 'भविष्य पुराण' के विवरण से विदित होता है कि सूर्य मूर्ति की पूजार्थ शाक द्वीपी या मग ब्राह्मण निर्दिष्ट थे। ओसिया के सूर्य मन्दिर मे भी मग ब्राह्मण (भोजक) सूर्य की पूजा करते थे।

शक्ति-पूजा

भारत मे शक्ति (देवी) पूजन के प्रमाण सैन्धव काल से ही प्राप्त होते हैं। राजस्थान के सैन्धव नगर कालीबगा से देवी पूजन के चिन्ह उपलब्ध नही होते, किन्तु कालान्तर मे शनै शनै देश के अन्य भागों की भाति राजस्थान मे भी वैष्णव, शैवादि मतो की लोकप्रियता के साथ शक्ति पूजा का प्रचार-प्रसार हुआ। गुप्तकाल मे शाक्त मत अन्य मतों की भाति जनप्रिय हो गया था। पूर्वमध्यकालीन राजस्थान मे शक्ति पूजा के प्रमाण अभिलेखो, मन्दिरो तथा मूर्तियों के रूप मे प्राप्त होते है। रैढ उत्खनन से मातृदेवी की अनेक मृण्मूर्तिया प्राप्त हुई हैं जो उस युग मे शक्ति पूजा के प्रचलन की परिचायक हैं।[1] साम्भर के उत्खनन मे प्राप्त पुरावशेषो से शक्ति उपासना का सकेत मिलता है।[2] नगर से प्राप्त महिषासुर मर्दिनी की एक कुषाणकालीन लघु मृण्मूर्ति भारतीय मूर्तिकला के लिए राजस्थान की अनुपम देन है। आर सी. अग्रवाल के मतानुसार महिषासुर मर्दिनी-पूजन कुषाणकाल मे आरम्भ हो चुका था और सम्भवत देवी के इस रूप की आराधना राजस्थान से ही अन्यत्र फैली थी।[3] देवी उपासना की परिचायिका दुर्गा एव पार्वती की कई गुप्तकालीन मृण्मूर्तिया साम्भर तथा रैढ से प्राप्त हुई हैं।

पाचवी शती से हमे शक्ति पूजा के अभिलेखीय प्रमाण प्राप्त होने लगते हैं। *गगधार (झालावाड के निकट) के मालव सवत् 480 के एक अभिलेख*[4] मे विष्णु की पूजा के अतिरिक्त मातृका-भवन निर्माण का उल्लेख

1 पुरी, के एन, रैढ उत्खनन वृत्त, पृ 26 और आगे
2 मरु भारती, 3, 1, पृ 23
3 वही।
4. फ्लीट, गुप्त इन्स्क्र, पृ 74-76

हुआ है। मालव सवत् 547 के भ्रमर माता (छोटी सादडी उदयपुर सभाग) अभिलेख का मगलाचरण असुरसहारिणी शूलधारिणी दुर्गा की आराधना से सम्बन्धित है।[1] कामा की एक गुप्तकालीन मूर्ति मे शिव पार्वती परिणय भाव अत्यन्त विलक्षण रूप से अभिव्यक्त हुआ है।[2] सूरतगढ, रगमहल, हनुमानगढ इत्यादि स्थलों से गुप्तकालीन मूर्तिया प्राप्त हुई हैं।[3] गोठ-मगलोद (जोधपुर सभाग) से प्राप्त सातवी शती के एक अभिलेख मे वागीश्वरी सरस्वती की प्रार्थना की गयी है। तत्पश्चात् यह अभिलेख दाहिमा ब्राह्मणो की कुलदेवी 'दधिमती' के भवन का उल्लेख करता है। इस भवन का निर्माण गोष्ठियो द्वारा करवाया गया था।[4] आबू के निकट वसन्तगढ से प्राप्त वर्मलात के वि स 682 के अभिलेख मे क्षेमकरी दुर्गामाता 'क्षेमार्या' की वन्दना की गयी है। क्षेमार्या सुस्वास्थ्य की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी।[5] सामोली (मेवाड) के वि स 703 के एक अभिलेख से विदित होता है कि वटपुर से आये हुए व्यापारियो के एक समूह ने अरण्यवासिनी देवी के मन्दिर का निर्माण करवाया था।[6] वसुन्दर (डूगरपुर के समीप) नामक स्थान पर वसुन्दरा (वसुन्धरा) देवी का मन्दिर है। इस स्थान से सातवी शती का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है।[7] इस लेख का प्रारम्भ देवी वन्दना से होता है। जोधपुर मे मण्डोर रेलवे स्टेशन की एक वापी के निकट अष्टमातृका सहित गणेश की मूर्तिया प्रतिष्ठापित हैं। आर सी अग्रवाल ने इन प्रतिमाओ का समय सातवी शती का उत्तरार्द्ध माना है। मातृका मूर्तियो म शिशुविहीन मातृकाओ की स्थानक मुद्रा तथा उनके हाथो की सख्या विशेष उल्लेखनीय है।[8]

हमारे अध्ययनकाल मे भी राजस्थान मे शक्ति पूजा की प्राचीन परम्परा अबाध गति से प्रचलित रही। वि स 900 के दौलतपुरा ताम्रपत्र[9] म

---

1 इ. ए एस आई, 1929-30, पृ 187

2 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1919, पृ 65

3 गोयेत्स, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट, 1954, पृ 26 सम्प्रति ये बीकानेर सग्रहालय मे सुरक्षित है।

4 इ आई 11, पृ 299

5 वही, 9, पृ 189-92, द्र, राव, गोपीनाथ, एलिमैण्टस ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ 342

6 इ आई, 20 पृ 97-99

7 ओझा गौ ही, डूगरपुर राज्य का इतिहास, पृ 18-19

8 द्र, मरुभारती, 3, 1, पृ 23

9 इ आई, 5, पृ 208

प्रतिहार सम्राट नागभट, भोज तथा महेन्द्रपाल आदि के लिए 'भगवती भक्त' उपाधि का प्रयोग हुआ है। ताम्रपत्र के ऊपर स्थानक मुद्रा मे चतुर्भुजी देवी की आकृति उत्कीर्ण है। देवी के दानो ओर चरणो के पास एक सिंह अंकित है। देवी के ऊर्ध्व दाहिने हस्त मे लिंग, निम्न दाहिने हस्त म मणिमाल, निचले वामहस्त मे पात्र तथा उपरले वामहस्त मे गणेश प्रदर्शित हैं। सम्भवत उक्त प्रतिहार शासक इसी देवी के उपासक थे। उन्होने शैवोपासक होते हुए भी इस देवी की आराधना कर धार्मिक समन्वय का उदाहरण प्रस्तुत किया। अर्ना (जोधपुर सभाग) के प्राचीन देवालय के शिलालेख का प्रारम्भ 'ॐ ॐ नमो भगवती नन्दा' से हुआ है। लेख मे हिमवन्तवासिनी नन्दा देवी के निमित्त एक ब्राह्मण द्वारा भवन निर्मित करवाये जाने का उल्लेख हुआ है।[1] वि स 918 के घटियाला अभिलेख (जोधपुर सभाग) के समीप जैन देवी अम्बिका का अकन है।[2] ध्यातव्य है कि अभिलेख माताजी की साल से प्राप्त हुआ है। साम्भर से प्राप्त सवत् 998 के एक पाषाण लेख का प्रारम्भ 'श्री गणेशाय नम ' से हुआ है। तत्पश्चात् सरस्वती की स्तुति है। उसे आनन्ददायिका और अज्ञान विनाशनी कहा गया है।[3] वि स 1003 के एक अभिलेख मे प्रतिहार नरेश द्वितीय महेन्द्रपाल द्वारा घोटार्सी (प्रतापगढ के समीप) स्थित वटयक्षिणी देवी के मन्दिर निमित्त एक ग्राम दान का वर्णन है।[4] वि स 1028 के एकलिंग अभिलेख मे सरस्वती की वन्दना की गई है।[5] उनवास (हल्दीघाटी क्षेत्र, उदयपुर) के एक अभिलेख का प्रारम्भ सरस्वती वदना से हुआ है। इस स्थान पर दसवी शती ई के देवालय के भग्नावेष विद्यमान हैं।[6] इसी प्रकार किणसरिया (जोधपुर सभाग) के निकट 'केवायमाता' देवालय के वि स 1056 के अभिलेख मे कात्यायनी और काली देवी की स्तुति है।[7] सादडी स्थान के एक जैन मन्दिर मे तीर्थंकर देव के एक ओर कमलासीना अम्बिका को ललितासन म विराजमान प्रदर्शित किया गया है।[8] जगत से प्राप्त इन्द्राणी और आबानेरी स प्राप्त महिषासुर-

1 ओझा, गौ ही, जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ 28 इस शिलालेख का काल 9-10 वी शती माना जाता है।
2 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1907, पृ 34
3 आई ए 58, पृ. 234 यह अभिलेख जोधपुर सग्रहालय मे सुरक्षित है।
4 इ आई, 14, पृ 183-84
5 डी एच एन आई, 2, पृ 1171
6 वरदा 7 4, पृ 9
7 इ आई, 22, पृ 59
8 जनल ऑफ बोम्बे यूनिवर्सिटी, 1940, पृ 165

मर्दिनी की मूर्तियां लोगों में शक्ति के विविध रूपों की लोकप्रियता का प्रमाण हैं।[1]

राजस्थान मे चाहमानो और परमारो के शासनकाल में भी शाक्त धर्म का महत्व पूर्ववत् बना रहा। वि स 749 के एक लेख में सकरायमाता के मन्दिर का अग्रिम भाग स्थानीय गोष्ठियों द्वारा बनवाये जाने का विवरण प्राप्त होता है।[2] शाकम्भरी के चाहमानों की कुलदेवी आशापुरी थी।[3] द्वितीय विग्रहराज ने आशापुरी देवी का मन्दिर भड़ौच में भी निर्मित करवाया था।[4] सोमेश्वर तथा तृतीय पृथ्वीराज जैसे नरेशों के सिक्को पर 'आशावरी' शब्द का उत्कीर्ण होना इस देवी की विशेष स्थिति प्रमाणित करता है।[5] द्वितीय दुर्लभराज के किणसरिया अभिलेख मे एक शाक्त मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है।[6] इन्द्रराज चाहमान वटयक्षिणी का उपासक था।[7] रेवासा मे जीणमाता और बाली में बहुगुणा का पता क्रमश वि स 1162[8] और 1200[9] के अभिलेखो से लगता है। आबू पर्वत शाक्त धर्म का प्रमुख केन्द्र और अर्बुदेश्वरी का निवास माना जाता था।[10] मण्डोर की अष्टमातृका प्रतिमाए दुर्गा को चतुर्भुजा वैष्णवी, द्विबाहु महेश्वरी, चतुर्भुजा ब्रह्माणी, द्विबाहुमातृका, द्विबाहु इन्द्राणी, अष्ट भुजा चामुण्डा आदि विभिन्न रूपो मे प्रदर्शित करती है।[11]

परवर्ती विधानानुसार सभी प्रमुख देवो की आराधना शक्ति अर्चना से की जाती थी। विश्व के पालक विष्णु की शक्ति 'श्री' या लक्ष्मी मानी गयी हैं। सावित्री और सरस्वती का सम्बन्ध ब्रह्मा से माना जाता था। शिव की शक्ति दुर्गा या भगवती मानी गयी है।

1 रिसर्चर, 1, पृ 43
2 वरदा, 2, पृ 64
3 पृथ्वीराज विजय, 4, 84
4 वही, श्लोक 50-53
5 द्र, टामस, क्रानिकल्स ऑफ द पठान किंग्स ऑफ डेल्ही, पृ 59, 63, 64, 70
6 इ आई, 12, पृ 59
7 वही, 14, पृ, 184
8 पी आर ए एस, डब्लू सी, 1909-10, पृ 52
9 इ आई, 11, पृ 33
10 सरकार, डी सी, द शाक्तपीठ, भूमिका, पृ 20 और 22
11 अ चौ हा, पृ 263

हमारे अध्ययनकाल मे जैन धर्मावलम्बी भी चण्डिका की अर्चना करने लगे थे। जैनो ने उसे प्रतिरक्षक देवी के रूप मे स्वीकार कर लिया था।[1] परन्तु उन्होने देवी के उग्र रूप क स्थान पर ललित रूप की अर्चना की। उन्होने उसे सच्चिका (सचिया) माता कहा। मारवाड क्षेत्रान्तर्गत सच्चिका (सचिया) देवी को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त थी। सच्चियाा माता के सुविख्यात ओसिया मन्दिर मे गर्भगृह के बाहर के तीन प्रधान ताको मे चामुण्डा, महिषमर्दिनी तथा शीतला देवियो की मूर्तिया प्रतिष्ठित की गई थी। अन्तिम ताक मे महिषमर्दिनी के सन्निकट वि. स 1234 का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। इस अभिलेखानुसार सच्चिया माता देवालय मे चण्डिका, शीतला, सच्चिया, क्षेमकरी प्रभृति देवियो तथा क्षेत्रपाल भैरव की अर्चाएं प्रतिष्ठित की गई थी।[2] स्पष्टतया सच्चिका देवी का सम्बन्ध चण्डिका, महिषमर्दिनी और भैरव से था। वि. स. 1236 के एक अन्य ओसिया अभिलेख से सच्चिया माता का ओसिया ग्राम से सम्बन्धित होना निर्विवाद है।[3]

ओसिया शिलालेखो तथा मूर्ति शिल्प से सकेतित है कि महिषमर्दिनी ही वस्तुत सच्चिया माता है। इस अवधारणा की पुष्टि जैन ग्रथ उपकेशगच्छ पट्टावली से होती है।[4] जैन धर्म मे प्रवेश करने के कारण देवी महिषमर्दिनी ने उग्र रूप का परित्याग कर सच्चिका (सत्य वृत्ति) रूप धारण कर लिया।

मारवाड के मालाणी क्षेत्र के जूना स्थल मे भी सच्चिया माता का मन्दिर था। इस देवालय से उपलब्ध वि स 1236 के अभिलेख[5] मे इसके निर्माण का विवरण प्राप्त होता है। इसके अनुसार ऊकेसगच्छ से सम्बन्धित सत्यशील और क्षमागुण से युक्त एक साध्वी ने अपने और दूसरों के कल्याण के लिए सच्चिका देवी की प्रतिष्ठा करवाई थी।

---

1 वही, पृ 264

2 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 198

3 वही, 1, पृ 198

4 द्र पट्टावलीसमुच्चय, 1, आई ए, 19 मे उक्त पट्टावली का अनुवाद दिया गया है।

हमारे अध्ययनकाल के बहुत बाद का (वि स 1655 का) एक अन्य अभिलेख सच्चिया माता के मन्दिर से प्राप्त हुआ है (एन्वल रिपोर्ट आफ द आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेण्ट, जोधपुर, *21*, पृ *10*)

5 प्राचीन शिलालेख सग्रह, 1942, पृ 2।

हरिभद्र सूरि ने महाकाली, विद्या तथा चण्डिका का पूजन अष्टमी, नवमी और चतुर्दशी तिथियो के दिन करने का प्रावधान किया है (समराइच्चकहा, पृ 358 और 457)।

अन्य देवगण : गणेश

गणेश को विनायक, गणाधिप, एकदन्त, लम्बोदर, गजानन्द इत्यादि नामो से सम्बोधित किया जाता है ।[1] पौराणिक आख्यानो के अनुसार गणपति शिव के द्वितीय पुत्र हैं, जो विघ्नो को दूर करते तथा जीवन को मगलमय करते हैं। पचायतन पूजा मे गणेश को विष्णु, शिव, सूर्य तथा दुर्गा के बाद स्थान दिया गया है, यद्यपि शुभकामनाओ मे उनकी अर्चना सर्वप्रथम की जाती है ।

राजस्थान मे गणेश पूजन की परम्परा हमारे अध्ययनकालीन ग्रथो से प्रमाणित होती है । समसामयिक अभिलेखो से गणेश भक्ति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । खण्डेले से प्राप्त वि स. 864 के एक अभिलेख मे *गणपति* का उल्लेख है ।[2] कक्कुक के घटियाला अभिलेख का प्रारम्भ विनायकवदन से होता है । घटियाला स्तम्भ के शीर्ष पर चतुर्दिक् मुख किए हुए गणपति की चार मूर्तिया उत्कीर्ण की गई हैं । घटियाला के एक अन्य अभिलेख मे विनायक से सर्वत्र सिद्धि की कामना की गई है ।[3] चौलुक्य जयसिंह सिद्धराज के साम्भर अभिलेख का मंगलवाक्य 'श्रीगणेशायनम:' है ।[4] परमार पूर्णपाल के वि. स. 1102 के भण्डुण्ड अभिलेख के प्रारम्भ मे 'गणेशायनमो' उत्कीर्ण है ।[5] जीदराव (मालानी क्षेत्रान्तर्गत, खिचूद के निकट) के कीर्ति स्तम्भ अभिलेख (वि. स. 1234) का प्रारम्भ 'ॐ नमो गणपतये' मगलपद से हुआ है ।[6] वि. स. 1236 के फलोदी से प्राप्त एक अभिलेख का मगलपद 'ॐम ।। सिद्धिविनायक प्रसादात्' है ।[7] वि. सं. 1272 के मगलाणा अभिलेख मे कार्य सिद्धि हेतु अविघ्नेश्वर (गणेश) की अर्चना की गयी है ।[8]

विचाराधीनकालीन राजस्थान से गणेश की नृत्य मुद्रा मे प्रतिमाए उपलब्ध हुई है । इस मुद्रा विशेष मे गणेश प्रतिमाए हर्ष और आबानेरी से प्राप्त हुई हैं । जोधपुर के निकट मण्डोर के एक प्रस्तर खण्ड पर छ: मातृकाओ, गणेश और भगवान् शिव को नृत्य मुद्रा मे अकित किया गया है ।[9] कोटा

1. अमरकोश, स्वरादि खण्ड, श्लोक 38
2. विश्वम्भरा, 2, 4, पृ. 17
3. इ. आई., 9, पृ. 279
4. वही, पृ. 280
5. जे. बी. बी. आर. ए. एस., 23, पृ. 78
6. सोमानी, रामवल्लभ, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज् टाइम्स, पृ. 180
7. जे. पी. ए. एस. बी. 12, पृ. 93
8. इ. आई , 12, पृ. 58
9. जे. आई. एच., 38, पृ. 501

सभाग से प्राप्त दसवी शताब्दी की दो विशाल नर्तक-गणेश प्रतिमाए भी उल्लेखनीय हैं। इनमे प्रथम है काकरनी ग्राम की दशभुजी[1] प्रतिमा तथा दूसरी है गागोबी की चतुर्भुजी गणेश प्रतिमा।[2] झालरापाटन से प्राप्त चतुर्भुजी नर्तक-गणेश प्रतिमा के नीचे उभय पार्श्व मे दो मूषक भी दिखाए गए हैं।[3] दसवी शताब्दी की सुखासन मुद्रा मे एक अन्य चतुर्मुखी गणेश मूर्ति बयाना के पास नगला छेला स्थान से प्राप्त हुई है। इसके दो अधोहस्तो मे से दाहिने मे लेखनी तथा बाए मे मोदक और ऊर्ध्व दाहिने हाथ मे परशु एव बायें मे सनाल कमल है। मूर्ति मे सर्प का यज्ञोपवीत है तथा वक्ष पर 'श्रीवत्स' चिह्न अकित किया गया है। उसके चरणो के पास मूषक भी उत्कीर्ण है।[4] नीलकण्ठ (राजौर) नामक स्थान से भी अष्ट हस्त वाले गणेश की प्रतिमा प्राप्त हुई है।[5]

स्कन्द-कार्तिकेय

स्कन्द कार्तिकेय भी शिव-पार्वती के पुत्र माने गये हैं। देवताओ की सेना का नायकत्व करने के कारण वह महासेन नाम से भी प्रख्यात हुए। 'कुवलयमाला' मे हिन्दू धर्म के लोकप्रिय देवताओ मे स्कन्द का परिगणन हुआ है।[6] हमारे विचाराधीनकाल के अभिलेखो मे यद्यपि स्कन्द पूजा सम्बन्धी सन्दर्भ अनुपलब्ध हैं, तथापि स्कन्द अर्चाओ से तत्सम्बन्धी स्थिति का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। कोटा सग्रहालय मे स्कन्द-कार्तिकेय की एक प्रतिमा विद्यमान है।[7] जोधपुर सभाग मे बुचकला से भी स्कन्द कार्तिकेय की मूर्ति उपलब्ध हुई है।[8] आबानेरी से आठवी शताब्दी की स्कन्द की स्थानक मूर्ति प्राप्त हुई है। इस मूर्ति के सन्निकट स्कन्द के वाहन मयूर को भी प्रदर्शित किया गया है।[9] इसी स्थान की एक अन्य मूर्ति मे त्रिमुखी स्कन्द मयूरासीन है।[10] इसी प्रकार की नवी शताब्दी की एक स्कन्द प्रतिमा नकटी माता के

---

1. रिसर्चर, 7-9, पृ. 77
2. वही।
3. वही। यह सम्प्रति झालावाड सग्रहालय मे सुरक्षित है।
4. वही, पृ 34
5. जैन, के. सी, एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स् ऑफ राजस्थान, पृ 544
6. रा. अ. ए, पृ. 392
7. वही।
8. इ. आई, 9, पृ. 198-200
9. रिसर्चर, 12-13, पृ. 15-19
10. वही।

मन्दिर से भी प्राप्त हुई है।[1] नीमाज (पाली जिला) से तीन मस्तक वाले स्कन्द की मूर्ति प्राप्त हुई है।[2] छोटी खाटू (नागौर जिला) की एक वापी मे पत्थर पर षड्भुजी कार्तिकेय नृत्य मुद्रा मे उत्कीर्ण किए गए हैं।[3]

रेवन्त

पौराणिक परम्परानुसार रेवन्त सूर्य पुत्र है।[4] 'कुवलयमाला' के अनुसार सामुद्रिक मार्ग से व्यापार करने वाले व्यापारी सकटकाल मे अन्य देवताओ के साथ रेवन्त की भी आराधना करते थे।[5] 'पृथ्वीराजविजय' मे रेवन्त, सुग्रीव, कर्ण तथा वैवस्वत आदि का उल्लेख सूर्य के रूप मे हुआ है।[6] हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान मे रेवन्त की मूर्तिया विभिन्न स्थानो से उपलब्ध हुई हैं। इन मूर्तियो मे सामान्यतः रेवन्त को अश्वासीन दिखाया गया है। वह दाहिने हाथ में मदिरा पात्र तथा बायें हाथ मे लगाम पकड़े हुए हैं। देवता के सम्मुख एक व्यक्ति जलपात्र लिये प्रदर्शित किया गया है। घोडे के पैरो के बीच एक कुत्ता है। यदा कदा श्वान को शकूर पर आक्रमण करता हुआ भी दिखाया गया है। अश्वारोही रेवन्त के पीछे एक अनुचर का प्रदर्शन है। रेवन्त की मूर्तिया चित्तौड के समीप नगरी, जोधपुर के निकट ओसिया, भरतपुर के निकट मलाहा, सीकर मे स्थित हर्षगिरि के मन्दिर एव अजमेर जिले मे सावर ग्राम आदि स्थानो से प्राप्त हुई हैं।[7]

रेवन्त की भाति अश्वनीकुमारो की भी सूर्य के युग्म-पुत्रो के रूप मे पूजा की जाती थी। राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रो से अश्वनीकुमारो की प्रतिमाए प्राप्त हुई हैं।[8] अजमेर सग्रहालय मे यम की प्रतिमाए भी सुरक्षित हैं। अतः यहा यम की भी आराधना की जाती होगी। इनके अतिरिक्त कामदेव (मदन, अनंग या मधुमथन) की पूजा भी प्रचलित थी। चैत्रमास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी मदन त्रयोदशी के नाम से जानी जाती थी। इस तिथि पर मदन की पूजा की जाती थी।

---

1 वही।
2. वही।
3. वही।
4. विष्णु पुराण, 3,2, 2-7
5. कुवलयमाला, 19, 68
6. रिसर्चर, 12-13, पृ. 19 पर उद्धृत
7. वही, पृ. 18-24
8. जे. आई. एच, 41, पृ. 227-28

जैन धर्म

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान म जैन सूरियो और साधुओ के सतत प्रयास के फलस्वरूप जैन धम का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हुआ और जैन धर्मानुयायियो की सख्या म वृद्धि हुई। राजस्थान म विचाराधीनकाल मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो का प्रचलन था। बयाना से प्राप्त वि स 1100 के एक अभिलेख म जैन श्वेताम्बर सूरि माहेश्वर का उल्लेख है।[1] चित्तौड से प्राप्त वि स 1207 के एक अभिलेख म दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रमुख जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति का उल्लेख है।[2] यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि राजस्थान के नरेश और पदाधिकारी प्रमुखतया हिन्दू थे फिर भी उन्होने जैन धम के प्रति परम्परागत सहिष्णु भाव और उदार दृष्टिकोण अपना कर इसकी समुन्नति म योगदान किया। इस काल मे अनेक गच्छो की स्थापना हुई और इस क्षेत्र के अनेक प्रमुख नगरादि जैन धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बने। वर्षावास के अवसर पर इन केन्द्रो में सभाओ और गोष्ठियो का आयोजन होने लगा। इससे शिक्षा-साहित्य की अभिवृद्धि और धर्म का प्रचार हुआ। जैन विद्वान हरिभद्रसूरि के प्रयासो से चित्तौड जैन धर्म के मुख्य केन्द्र के रूप मे प्रतिष्ठित हो गया। उनके प्रवचनो से लोग अत्यधिक प्रभावित हुए। हरिभद्रसूरि ने अनेकातजयपताका, धमबिन्दु प्रभृति ग्रथो की रचना कर उनके माध्यम से जैन सिद्धान्तो को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। इसके उपरान्त वि स 835 म उद्योतनसूरि ने 'कुवलयमाला और सिद्धर्षिसूरि ने वि स 962 मे 'उपमितिभवप्रपच कथा की रचना की।

प्रतिहार प्रशासन कालान्तर्गत जैन धर्म की प्रगति हुई। स्वय प्रतिहार शासको ने जैन धर्म को प्रश्रय प्रदान किया। प्रथम नागभट का जैन साधु यक्षदेव से प्रगाढ सम्बन्ध था।[3] वत्सराज के शासनकाल मे अनेक जैन उपदेशको द्वारा जैन धम की प्रगति के लिये काम किया गया।[4] उसी समय ओसिया (जोधपुर सभाग) मे महावीर स्वामी का मन्दिरनिर्मित हुआ।[5] द्वितीय नागभट के काल मे बप्पभट्टि अत्यधिक प्रभावशाली जैन सूरि थे। उन्हें जैन साहित्य मे द्वितीय नागभट के मित्र और आध्यात्मिक गुरू के रूप

---

1 आई ए, 14, पृ 8-10
2 इ आई, 2, पृ 421-424
3 रा अ्र ए, पृ 420
4 वही।
5 ए एस आई, 1908-09 पृ 108

मे प्रतिष्ठित किया गया है।[1] इस समय अनेक जैन 'प्रासादो' का निर्माण हुआ। मिहिरभोज के शासनकाल मे बप्पभट्टि के शिष्य नन्नसूरि और गोविन्द सूरि का इस क्षेत्र मे विशेष सम्मान था।[2] प्रतिहारो की मण्डोर शाखा के नरेशो ने भी जैन धर्म को समुचित आश्रय प्रदान किया था। कक्कुक यद्यपि ब्राह्मण धर्मानुयायी था तथापि उसने रोहिंसकूप मे जैन मन्दिर का निर्माण करवाया और इसके प्रबन्ध का उत्तरदायित्व गोष्ठिको को सौंपा।[3]

जैनाचार्यों से प्रभावित होकर चाहमान शासको ने भी इस धर्म को समुचित सरक्षण प्रदान किया। प्रथम पृथ्वीराज ने रणथम्भौर के एक जैन मन्दिर को स्वर्ण छत्र अर्पित किया था।[4] इसके पुत्र अजयराज ने अजमेर के पार्श्वनाथ मन्दिर को स्वर्ण कलश अर्पित करने की घोषणा की थी। उसने श्वेताम्बर मुनि धर्मघोष और एक दिगम्बर मुनि के बीच हुई धर्म चर्चा मे निर्णायक पद ग्रहण किया था।[5] अजयराज के पुत्र अर्णोराज ने धर्मघोष सूरि को अपनी राजसभा मे सम्मान दिया और जिनदत्तसूरि को अजमेर मे जैन मन्दिर का निर्माण करवाने के लिए अनुमति प्रदान की।[6] चतुर्थ विग्रहराज ने जैनो के आग्रह पर एकादशी को जीव हत्या निषेध सम्बन्धी राजाज्ञा प्रसारित की थी।[7] बिजोलिया अभिलेख (वि स. 1226) के अनुसार द्वितीय पृथ्वीराज ने बिजोलिया मे पार्श्वनाथ मन्दिर की व्यवस्था हेतु मोराझरी गाँव दान दिया था।[8] उसके पितृव्य सोमेश्वर ने भी उक्त मन्दिर के लिए रेवना ग्राम दान किया था।[9] तृतीय पृथ्वीराज ने जैन धर्माचार्यों को न केवल राजाश्रय प्रदान किया प्रत्युत वह जिनपतिसूरि और पद्मप्रभा के बीच हुए शास्त्रार्थ मे निर्णायक भी बना था।[10]

नाडोल शाखा के चाहमानो ने भी जैन धर्म के प्रति उदार नीति का अनुसरण किया जिससे मारवाड सभाग मे जैन धर्म की लोकप्रियता बढी।

1. रा. अ. ए., पृ. 416
2. जैन, के. सी, जैनिज्म इन राजस्थान, 1963 पृ. 19
3. इ. आई., 9, पृ. 277-80
4. अ. चौ डा., पृ. 43
5. खरतरगच्छपट्टावली, पृ. 16
6 अ. चौ. डा., पृ. 61-62
7. केटलाग ऑफ द पामलीफ एम. एस एस. इन द पट्टन भण्डारज प. 370
8. इ. आई, 26, पृ. 84
9. वही।
10. खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली, पृ. 25-33

कुमारपाल चौलुक्य के सामन्त अश्वराज चाहमान ने जैन धर्म को स्वीकार करके इसके प्रसार के लिए प्रयत्न किए। उसने मास की कुछ विशेष तिथियो को जीव हत्या निषेध सम्बन्धी आदेश प्रसारित किया था।[1] सेवाडी से प्राप्त वि स 1167 के अभिलेख से विदित होता है कि अश्वराज ने चार गावो के प्रत्येक रहट्ट से एक हारक जो जैन मन्दिर निमित्त देने की व्यवस्था की थी।[2] नाडलाई से प्राप्त वि स 1189 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि रायपाल के पुत्रद्वय (रुद्रपाल और अमृतपाल) ने जैन मन्दिर के निमित्त दो पल्लिका तेल दान की व्यवस्था की थी।[3] उसके काल के कुछ अन्य अभिलेखो मे भी जैन तीर्थंकर नेमिनाथ और महावीर के मन्दिरों को दिये गये दान का उल्लेख हुआ है।[4] कुमारपाल चौलुक्य के सामन्त महाराज आलणदेव ने जैन धर्म प्रचार को प्रोत्साहित किया था। उसने प्रत्येक माह की अष्टमी, एकादशी को अपने प्रदेश मे जीवहिंसा निषध की आज्ञा प्रसारित की थी।[5] वि स 1217 म कीतिपाल ने अपने अधीनस्थ प्रत्येक गाव से दो द्रम्म नाडलाई के जिन महावीर को दिलवाये जाने का निर्णय किया था।[6] आल्हणदेव के वि स 1228 के दान शासन से ज्ञात होता है कि उसने पडेरकगच्छ के जैन मन्दिर को 'नड्डूलतलपद शुल्कमण्डपिका' से प्रति माह पाच द्रम्म दिये जाने का आदेश दिया था।[7] आल्हणदेव के पुत्र केल्हणदेव ने भी जैन धर्म की उन्नति मे योगदान दिया था। केल्हण के शासनकाल मे मूलनायक को एक हल भूमि दान की गई थी।[8] एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके द्वारा भगवान् शातिनाथ के उत्सव के लिए दान दिया गया था।[9] केल्हण के कतिपय अन्य अभिलेखो से भी जैन मन्दिरो और उपासरो के लिए दान दिये जाने पर प्रकाश पडता है।[10]

---

1 जैन, के सी, जैनिज्म इन राजस्थान, पृ 20
2 इ आई, 11, पृ 29
3 वही, पृ 35
4 वही 9, पृ 159, 12, पृ 38
5 वही, 12, पृ, 43
6 वही, 9, पृ 66-70
7 वही, पृ 63
8 वही, 11, पृ 46-47
9 वही, पृ 49-50
10 वही, पृ 51, 52

जालौर शाखा के चाहमानो के शासनकाल मे भी जैन धर्म की प्रगति हुई। उनकी राजधानी जालौर के वि. स. 1239 के अभिलेखानुसार श्रीमाल के श्रेष्ठि यशोवीर ने एक मण्डप का निर्माण करवाया था।[1] यही के एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ के कुमारपाल चौलुक्य द्वारा निर्मित मन्दिर का पुनर्संस्कार वि. स. 1242 मे भण्डारी यशोवीर ने करवाया था।[2] उक्त निर्माण कार्य चाहमान समरसिंह के आदेशानुसार किया था। जालौर से हमारे अध्ययनकाल के उपरान्त के भी ऐसे अनेक अभिलेख प्राप्त हैं जिनमे जैन मन्दिरो को दिये गए दान का उल्लेख है।[3]

परमार शासको द्वारा भी जैन धर्म प्रसार मे योग दान किया गया था। वि. स. 1026 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि परमार कृष्णराज के समय सिरोही क्षेत्र के एक ग्राम मे जैन मन्दिर का निर्माण हुआ था।[4] वि. सं. 1254 के झाडोली अभिलेख से ज्ञात होता है कि परमार रानी शृंगार-देवी ने स्थानीय महावीर मन्दिर की व्यवस्था हेतु भूमि प्रदान की थी।[5]

हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूटो के शासनकाल मे मारवाड क्षेत्र मे जैन धर्म अत्यन्त उन्नत अवस्था मे था। हस्तिकुण्डी से प्राप्त वि. स 973 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि विदग्ध ने एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया था।[6] कामयक, बयाना, त्रिभुवनगिरि तथा मेवाड के गुहिलो ने भी जैन धर्म को प्रश्रय दिया था। भर्तृपट्ट ने गुहिल विहार का निर्माण करवाया था और आदिनाथ की मूर्ति स्थापित करवाई थी।[7] अल्लट के एक जैन मन्त्री ने आघाट में जैन मन्दिर बनवाया था।[8] कोटा क्षेत्र मे शेरगढ़ ग्राम मे ग्यारहवी शताब्दी मे तीन विशाल जैन मूर्तियो का निर्माण करवाया गया था।[9] अटरु, कृष्ण विलास और रामगढ मे पूर्वमध्यकालीन जैन मन्दिरो के भग्नावशेष

1. वही, पृ. 53-54
2. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी , 1908-09, पृ. 55
3. वही।
4. ए. पी. जे. एल. एस , सं. 486
5. वही, सं. 311
6. इ. आई., 10, पृ. 24
7. रा. अ. ए , पृ. 421
8. वही।
9. वही।

प्राप्त हुए हैं। जैसलमेर सभाग मे विक्रमपुर जैन धर्म का प्रमुख स्थान था। लोद्रवा और जैसलमेर मे प्राचीन जैन मन्दिरो के अवशेष आज भी उपलब्ध हैं।[1]

चौलुक्य शासको ने भी जैन धर्म को समुचित सरक्षण प्रदान किया। राजस्थान का एक विस्तृत भाग चौलुक्यो के अधीन था जयसिंह सिद्धराज यद्यपि शैव मतानुयायी था तथापि उसने जैन धर्मावलम्बियो का विशेष सम्मान किया। उसके काल मे वि स 1182 मे दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बर मुनि देवसूरि के बीच धर्म गोष्ठी का आयोजन हुआ था जिसमे श्रद्धालुजन सुदूर क्षेत्रो से आकर एकत्र हुए थे।[2] जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र सूरि के प्रभाव मे जैन धर्म का अत्यन्त उत्साही अनुयायी बन गया था।[3] उसने जैन धर्म के प्रसार के लिए अनेक पग उठाये। उसने अपने राज्य मे जीव हत्या निषिद्ध घोषित कर दी थी। 'द्वयाश्रयमहाकाव्य'से ज्ञात होता है कि पाली क्षेत्र मे ब्राह्मणो को यज्ञ मे धान की आहूति से सतुष्ट होना पडता था और साधुओं के लिए अजिन प्राप्त करना कठिन हो गया था।[4] उसके काल मे अनेक जैन धर्मशास्त्र-भण्डारो की स्थापना की गयी और जैन प्रासादो का निर्माण हुआ। वि स 1200 के एक अभिलेख से विदित होता है कि उसने जालौर म भी एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया था।[5]

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखो मे विभिन्न जैन गच्छो का उल्लेख हुआ हैं। इसे जैन धर्म की लोकप्रियता का द्योतक माना जा सकता है। आबू से प्रारम्भ हुए वडगच्छ का उल्लेख वि स 1143[6] और वि, स 1215[7] के अभिलेखो मे हुआ है। वडगच्छ का प्रभाव सिरोही और मारवाड क्षेत्र मे भी था। यद्यपि खरतरगच्छ का प्रारम्भ गुजरात से हुआ था तथापि राजस्थान म भी इस गच्छ के अनुयायियो की सख्या उल्लेखनीय थी। राजस्थान के

---

1 वही।
2 जैन, के सी, जैनिज्म इन राजस्थान, पृ 24
3 वही।
4 वही।
5 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1908-09, पृ 55
6 वही, पृ 52
7 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 206

अभिलेखों मे सारध-पूर्णमीया,[1] उपकेश,[2] नागपुरिय,[3] कामयक,[4] पिप्पेल[5] आदि गच्छों का उल्लेख है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गुहिल, प्रतिहार, चाहमान, परमार, राष्ट्रकूट तथा चौलुक्य शासनान्तर्गत राजस्थान के प्रत्येक क्षेत्र मे जैन धर्म की पर्याप्त लोकप्रियता थी। राजपूत शासक हिन्दू धर्मावलम्बी होते हुए भी जैन धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण अपना कर इस धर्म को प्रोत्साहित करते थे।

विधि चैत्य आन्दोलन का सूत्रपात चित्तौड के हरिभद्रसूरि (700-770 ई.) ने किया। उनका उद्देश्य जैन सघ तथा जैन साधुओं के जीवन मे व्याप्त बुराइयो को दूर करना और जैन धर्म मे नवचेतना का सचार करना था। इसके लिये उन्होने जैन धर्म का युक्ति-युक्त पालन करने पर बल दिया। उन्होने निग्रन्थो व जैन साधुओं का एक स्थान पर ठहरना, किसी राजा, व्यक्ति अथवा चल अथवा अचल सम्पत्ति से सम्बन्ध जोडना तथा बाह्य कर्म-काण्ड आदि मे रुचि लेना जैन धर्म के नियमो के विरुद्ध बतलाया। उनके उपदेश सम्पूर्ण मानव जाति के लिए थे। उनका कथन था कि जैन धर्म मे जातिगत, वर्गगत एव आर्थिक गरीब और अमीर के भेदभाव को स्थान नही है। उन्होने यतित्व, तपस्या, त्याग, आत्म-नियन्त्रण और पवित्रता का उपदेश दिया। हरिभद्रसूरि द्वारा चलाया गया यह आन्दोलन उनकी मृत्यु के पश्चात उनके शिष्य उद्योतनसूरि और सिद्धर्षिसूरि के नेतृत्व मे आगे बढा। उनके अतिरिक्त खरतरगच्छ के आचार्यों ने इस आन्दोलन को गति देने मे बहुत हाथ बटाया। इस विषय मे जिनेश्वरसूरि और उनके शिष्य जिनवल्लभ के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। उन्होने इस आन्दोलन को 'विधि मार्ग' की सज्ञा दी और स्थान-स्थान पर विधिचैत्यों का निर्माण करवाया। जिनवल्लभ ने चित्रकूट (चित्तौड) को अपना मुख्य केन्द्र बनाया। उन्होंने अपने सरल जीवन, तपस्या, ज्ञान व उपदेशों से जनता को जैन धर्म के प्रति आकर्षित किया। मरु कोट्ट, नरवर, नागौर, चित्तौड़ आदि स्थानो पर विधिचैत्यों की स्थापना की गई। इन चैत्यो मे विधि मार्ग के मूल सिद्धान्तो को शिलाओ

1. जैन, के. सो., जैनिज्म इन राजस्थान, पृ. 59
2. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., पृ. 198
3. यह गच्छ नागौर से प्रारम्भ हुआ था।
4. आई. ए., 14, पृ.8
5. ए. पी. जे. एल. एस., पृ. 97

पर उत्कीर्ण करवाया गया ।[1] मालवा के शासक नरवर्मा ने, जो उस समय चित्तौड का स्वामी था, एक मण्डपिका से प्रतिदिन दो पारुत्य देने की व्यवस्था की थी जिससे नगर के दो विधिचैत्यो का प्रबन्ध किया जाता था ।[2]

जिनवल्लभ का देहात वि. स 1167 मे हुआ । उनके बाद उनके शिष्य जिनदत्तसूरि ने विधिचैत्य विचारधारा का प्रचार किया । उन्होने अपने उपदेशो के लिए अपभ्र श भाषा का उपयोग किया । इससे वह सामान्य वर्ग के लोगो को प्रभावित करने मे अधिक सफल हुए । उन्होने चित्तौड, नागौर, नरभट्ट और कन्यानयन (उत्तरी बागड), अजमेर, बिक्रमपुर (जैसलमेर), त्रिभुवनगिरि (आधुनिक थानगढ, जो करौली से 24 मील दूर स्थित है), व्याघ्रपुर (दक्षिणी बागड) आदि स्थानो का भ्रमण कर वहा जैन धर्म का प्रचार किया । उनके शिष्य जिनचन्द्रसूरि और उनके बाद उनके शिष्य जिनपतिसूरि ने भी विधि मार्ग आन्दोलन को गति देने मे बडा सहयोग दिया । हमारे अध्ययनकाल के अन्त तक इस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होने लगा था और जैन धर्मानुयायियो की सख्या मे वृद्धि हो गई थी । यद्यपि अब भी जैन धर्म के अनुयायियो मे वैश्य जाति के ही लोग अधिक थे तथापि अब अन्य जातियो के भी अनेक जनो ने जैन धर्म स्वीकार किया । हरिभद्रसूरि स्वय ब्राह्मण जातीय थे । भण्डारी या भण्डागारिक जैन अपने को नाडोल राज्य की चाहमान शाखा के सस्थापक लक्ष्मण के वशज मानते हैं । सोनी वैश्य जाति का, जो जैन धर्म मानती है, उद्गम राजपूतो से हुआ माना जाता है । बारहवीं शताब्दी मे राजस्थान निवासी ब्राह्मण प्राय मासाहारी थे ।[3] आज वे सभी शाकाहारी हैं । सम्भवत जैन धर्म के प्रभाव के कारण ही ऐसा हुआ है । जैन आचार्यों के सम्पर्क और प्रभाव मे आने के परिणामस्वरूप बहुत से राजपूत राजा और सामन्त भी अहिंसावादी हो गये ।[4]

बौद्ध धर्म

जब चीनी यात्री ह्वेनसाग लगभग वि स 697 मे राजस्थान आया था तब उसने बौद्ध धर्म को इस प्रदेश मे अवनतिशील अवस्था मे पाया था । गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल के सदर्भ मे वह लिखता है—'यहा की बस्ती घनी है परन्तु यहा विधर्मियो (वैदिक धर्म के अनुयायियो) की सख्या बहुत है और बौद्धो को अल्प । यहा एक ही सघाराम (बौद्ध मठ) है जिसमे

1 अ चौ डा, पृ 252-53 पर उद्धृत ।
2 आई एच क्यू, 26, पृ 224
3 इ आई, 11, पृ. 44
4 वही ।

हीनयान सम्प्रदाय के एक सौ भिक्षु रहते हैं जो सर्वास्तिवादी है।[1] सम्भवत चीनी यात्री वैराठ नगर भी पहुचा था। इसके सम्बन्ध मे वह लिखता है कि इस स्थान के निवासी बौद्ध धर्म का सम्मान नही करते। वहा आठ सघाराम थे किन्तु सभी प्राय. उजडे हुए थे।[2]

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान मे बौद्ध धर्म सम्भवत· राजस्थान के झालरापाटन और कोटा क्षेत्र मे ही सीमित रह गया था। शेरगढ से प्राप्त वि स 847 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि नागवशी देवदत्त ने कोशवर्द्धन पर्वत के पूर्व मे एक बौद्ध मन्दिर और मठ बनवाया था।[3] यह उसके बौद्ध धर्मानुयायी होने का सकेत है। 'कुवलयमाला' मे यदा कदा बौद्ध भिक्षुओ का उल्लेख हुआ है।[4] सम्भवतः लगभग नवी शताब्दी तक बौद्ध धर्म राजस्थान से लगभग पूर्णत विलुप्त हो गया था।

---

1. बील, रेकार्डस ऑफ वेस्टर्न वर्लड, 2, पृ. 270
2. वही, 1, पृ. 179
3. आई. ए., 14, पृ. 45-46
4. कुवलयमाला, पृ. 13, 14, 68 आदि

सामाजिक जीवन

हिन्दू समाज का मूल आधार वर्ण और जाति व्यवस्थायें रही हैं। आज भी ये प्रभावी रूप से समाज में विद्यमान हैं। हमारे अध्ययनकाल के प्रारम्भ तक हिन्दू समाज का विभाजन चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (जिनका आधार गुण और कर्म[1] माना गया था) तक ही सीमित नहीं रह गया था। अब समाज विभिन्न जातियों और उपजातियों में विभाजित हो गया था। इन जातियों और उपजातियों की उत्पत्ति के अनेक कारण थे। इनमें एक प्रमुख कारण था जीविकोपार्जन की विधि। विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों से सम्बन्धित वर्गों ने कालान्तर में विभिन्न जातियों का रूप धारण कर लिया। इसके अतिरिक्त हिन्दू समाज में विदेशियों के स्वीकार, अन्तर-जातीय विवाहों सीमावर्तीजनों के आर्यकरण आदि अन्य कारणों से भी हिन्दू समाज का विभिन्न जातियों व उपजातियों में विभाजन हुआ। जाति भेद के विकास के साथ जातियों में ऊंच-नीच की भावना उत्पन्न हुई। हम यहां पहले वर्ण और जाति भेद की व्याख्या करेंगे और तदुपरान्त विचाराधीन काल की जातियों पर विशेषकर अभिलेखीय सामग्री के आधार पर प्रकाश डालेंगे।

वर्ण अवधारणा मूलतः सास्कृतिक थी। सिद्धान्ततः इससे व्यक्ति की नैतिक तथा बौद्धिक योग्यता का आभास होता था। स्मृतिकारों ने वर्णों के सामाजिक कर्त्तव्यों पर बल दिया है न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एव विशेषाधिकारों पर। इसके विपरीत जाति व्यवस्था जन्म तथा आनुवंशिकता पर बल देती है। इसमें कर्त्तव्यों के पालन पर जोर न देकर विशेषाधिकारों पर बल दिया गया है।[2] धर्म शास्त्रों व स्मृतियों के अनुसार वेदाध्ययन करना, यज्ञ करना एव दान देना ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के आवश्यक कर्त्तव्य थे। वेदाध्ययन, यज्ञ करवाना तथा दान लेना ब्राह्मणों के, युद्ध करना एव जन रक्षा क्षत्रियों के तथा कृषि कर्म पशुपालन एव व्यापार करना वैश्यों के विशेषाधिकार माने गये थे।[3] शूद्रों का कर्त्तव्य द्विजातियों की सेवा करना माना गया है।[4]

राजस्थान से प्राप्त किसी भी अभिलेख का उद्देश्य वर्ण धर्म का वर्णन करना नहीं था। इनमें केवल शासन और दान के प्रसंग में वर्णों की चर्चा

---

1 भगवद्गीता, 4, 13

2 काणे, पी वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ 119

3 गौतम 10/1-3, द्र वसिष्ठ 2/13-19, मनु 1/88-90

4 आपस्तम्ब 1/1/1/7-8

है। जोधपुर से 52 कि मी. की दूरी पर स्थित ओसियां के एक जैन मन्दिर से प्राप्त वि स. 1013 के अभिलेख मे चार वर्णों का उल्लेख है।[1] ब्राह्मणो का समाज मे आदर व सम्मान था। वे धर्म-कर्म, शिक्षा-दीक्षा, शासन आदि में समाज का पथ-प्रदर्शन करते थे। उनकी विद्वता, बुद्धि, शुद्ध आचरण, विशाल हृदय और लोकोत्तर व्यवहार कुशलता आदि गुणो से अन्य सभी वर्ग प्रभावित थे।[2] चाहमान राजा पृथ्वीपाल के पुत्र रत्नपाल के वि स. 1176 के सेवाडी ताम्रपत्र से गुन्दमुच्छ (गु दकूर्च्च) निवासी ब्राह्मणो की विद्वता व अध्ययनशीलता की जानकारी मिलती है। गुन्दमुच्छ के ब्राह्मणो की इस दान पत्र मे वर्णित कीर्ति इस प्रकार है—वे चारो युगो मे पूज्य तथा इतिहास प्रसिद्ध थे। वे षड्कर्मी, जपी, अध्ययनशील और अनुष्ठान करने वाले थे। वे पुराण, रामायण, महाभारत षड्दर्शन एव याज्ञवल्क्य, कात्यायन, भृगु, अंगिरा व मार्कण्डेय की स्मृतियो के ज्ञाता तथा अवस्थ्य, *अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, सोत्रामणि, वाजपेय, चातुर्मास्य आदि यज्ञो के,* जिनसे पाप ग्रथिया खुलती है, कर्त्ता थे। वे वेदो और वेदागो मे पारगत थे। उनकी प्रसिद्धि पूर्ण चन्द्र के सदृश थी, आदि।[3] गुन्दमुच्छ के ब्राह्मण सभी प्रकार के करो से मुक्त थे।[4] ब्राह्मणो को कर मुक्त करने का उदाहरण हमारे अध्ययनकाल के तुरन्त बाद भी मिलता है। वि स 1290 मे आबू के राजा सोमसिंह ने ब्राह्मणो को कर मुक्त करने की घोषणा की थी।[5] तत्कालीन ब्राह्मणो की श्रेष्ठता की समाज मे मान्यता की पुष्टि समकालीन विदेशी यात्रियो द्वारा भी होती है। अरब यात्री मसूदी दसवी शताब्दी मे भारत आया था। उसने ब्राह्मणो को सभी जातियो मे श्रेष्ठ बतलाया है।[6] अल्बरूनी ने भी भारतीय समाज मे ब्राह्मणो की श्रेष्ठता मानी है। वह लिखता है कि ब्राह्मण अन्य जातियो की भाति राजा की सेवा करने के लिए बाध्य नही थे।[7] अबुजैद ने भी धर्म और विज्ञान मे रत ब्राह्मणो का उल्लेख किया है।

---

1. नाहर, पू च., जै.ले.स., 1, पृ. 192
2 वशिष्ठ 1/10/41
3. इ.आई, 11, पृ. 308
4. वही।
5. वही, 8, पृ. 211
6. हिस्टरी ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इटस ओन हिस्टोरियन्स, अनु इलियट एण्ड डाउसन, 1, पृ. 19
7. साउच, अल्बरूनीज इण्डिया, 1, पृ. 101; 2, पृ. 149

हमारे अध्ययनकाल मे समाज मे चार वर्णों का उल्लेख मात्र औपचारिकता रह गया था। वस्तुत प्रत्येक वर्ण जातियो व उपजातियो के रूप मे अनेक भेद व उपभेद उत्पन्न हो गये थे जिनकी समाज मे प्रतिष्ठा समान नही थी। यह प्रवृत्ति सूत्रकाल मे ही दृष्टिगत होने लगी थी। भारत के उत्तर व दक्षिण मे रहने वाले ब्राह्मणो के रीति-रिवाज, आचार-विचार आदि मे अन्तर थे। वे एक दूसरे की निन्दा तक करते थे। स्मृतिकाल' के आरम्भ मे ब्रह्मावर्त के ब्राह्मण वर्ग, अग और ओड्र मे निवास करने वाले ब्राह्मणो से श्रेष्ठ माने जाते थे। कभी-कभी तो पूर्वी क्षेत्र मे रहने वाले ब्राह्मणो को मलेच्छ तक कह दिया जाता था। इसी प्रकार अन्तर्वेदी के ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणो से श्रेष्ठतर समझे जाते थे। राजस्थान म श्रीमाली ब्राह्मण और गुजरात मे नागर ब्राह्मणो का समाज मे अन्य ब्राह्मणो से अधिक सम्मान था। हमारे अध्ययनकाल मे श्रीमाल या भीनमाल धर्म व सस्कृति का केन्द्र था और यहा के विद्वान ब्राह्मण अपने पण्डित व विशुद्ध आचार-विचार के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध थे।[1] *'कान्हडदेप्रबन्ध' का लेखक पद्मनाभ, जो स्वय* विशलनगरा ब्राह्मण था, श्रीमाल ब्राह्मणो की बडी प्रशसा करता है। उसने श्रीमाल को चाहमानो की ब्रह्मपुरी कहा है।[2] 'कान्हडदेप्रबन्ध' से श्रीमाली व विशलनगरा ब्राह्मणो के विषय मे विस्तृत जानकारी होती है। लक्ष्मीधर द्वारा लिखित 'विरुद्धविधिविध्वस' से मालूम होता है कि सोमेश्वर चाहमान के दो मन्त्री, स्कन्द और उसका लडका सोढ, गुजराती नागर ब्राह्मण थे।[3] 'स्कन्द पुराण' मे पच गौड और पच द्रविडों का उल्लेख मिलता है।[4] द्वितीय भीमदेव के पाटन अभिलेख मे रायकवाल ब्राह्मणो का विवरण दिया है।[5] सकराय माता अभिलेख से दायमा ब्राह्मणो का ज्ञान होता है।[6] इसी प्रकार वि स 982 के पुष्कर अभिलेख मे ब्राह्मणो की पुष्कर या पुष्करणा जाति की जानकारी होती है।[7] इनका खान-पान, रहन-सहन और आचार-विचार अन्य ब्राह्मणो से भिन्न थे।[8] ब्राह्मणो का एक अन्य वर्ग

---

1 रा अ़ ए, पृ. 443-44
2 पद्मनाभ, कान्हडदेप्रबन्ध, 3, श्लोक 25
3 विरुद्धविधिविध्वस, 3, पृ 488
4 श्लोक 2-3
5 आई ए, 11, पृ 71
6 इ आई, 11, पृ 303
7 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1909-10, पृ 59
8. रा अ़ ए, पृ. 444-45

भोजक या मग[1] कहलाता था। यद्यपि वे मूलत विदेशी थे फिर भी कर्म, आचार-विचार व धर्म के कारण इनकी गिनती ब्राह्मणो म की जाती थी। वि स 918 के घटियाला अभिलेख[2] मे इनका उल्लेख किया गया है। मारवाड मे यह जाति शाकद्वीपीय के नाम से भी जानी जाती है। ये ओसवालो पर आश्रित रह कर जीवन निर्वाह करते हैं। जैन मन्दिरो मे सेवा पूजा करने के कारण इन्हे सेवक भी कहा जाता है। ओसिया के सच्चियाय माता के मन्दिर से उपलब्ध वि स 1236 की एक प्रशस्ति मे एक भोजक के कार्यों का वर्णन है एव पारिश्रमिक रूप मे उसे सच्चिका देवी के कोष्ठागार से दो अजलि मूग और कर्ष प्रतिदिन दिये जाने की व्यवस्था का उल्लेख है।[3] मग और भोजक ब्राह्मणो का मूल व्यवसाय ज्योतिष था। ज्योतिषी ब्राह्मणो का समाज व राज्य मे सम्मान था। दान देने के समय ज्योतिषियो को साक्षी रूप म आमन्त्रित किया जाता था। अमृतपालदेव के वि स 1242 के अभिलेख में ज्योतिषी यशदेव और ज्योतिषी आमदेव को साक्षी रूप मे बुलाया गया था।[4] मग और भोजक ब्राह्मण विशेषत सूर्य की उपासना करते थे। वे जैन देवी-देवताओ की पूजा भी करते थे।

विचाराधीनकाल मे राजस्थान के पडोसी प्रदेशो से ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए है जिनमे ब्राह्मणो की आवसथिक, पुरोहित, द्विवेदी त्रिवेदी, चतुर्वेदी, मिश्र, दीक्षित, त्रिपाठी इत्यादि शाखाओ का बोध होता है।[5] राजस्थान म प्राप्त अभिलेखो म अनेक स्थानो पर ब्राह्मणो के नाम के पहले पण्डित,[6] ठक्कर,[7] पुरोहित,[8] भट्ट[9] आदि सम्मान सूचक शब्दो का प्रयोग मिलता है।

---

1 विस्तृत विवरण हेतु द्र अरोडा, राजकुमार हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल स्टा फाम द भविष्य पुराण, 1972, पृ 32 अ

2 इ आई, 9, पृ 279

3 नाहर, पू च., जै ले स, 1, पृ 198

4 ओझा निबन्ध सग्रह, 2, पृ 197

5 जे ए ओ एस, 7, पृ 25 इ आई, 14, पृ 204, 205 207, 208, वही, 4, पृ 98

6 (I) वि स 1143 का झालरापाटन अभिलेख, जे पी ए एस बी 10, पृ 241
(II) वि स 1212 का थकरडा अभिलेख, ए आर आर एम अजमेर, 1915-16, पृ 3

7 वि स 1242 का वीरपुर दानपत्र ओझा निबन्ध सग्रह, 2, पृ 196

8 वि स 1003 का प्रतापगढ़ अभिलेख, इ आई 14, पृ 182

9 झालरापाटन से प्राप्त वि स 746 का अभिलेख, वही, 5, पृ 181

ब्राह्मण जाति में अनेक गोत्र, प्रवर और शाखायें होती थी। 'बोधायन श्रौतसूत्र' के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि वसिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य आठ गोत्र ऋषि हैं। इस श्रौतसूत्र में यह भी उल्लिखित है कि गोत्रों की संख्या सहस्रो और लक्षों में है परन्तु प्रवर केवल 49 है।[1] हमारे अध्ययनकाल में ब्राह्मणों के भरद्वाज[2], कश्यप[3], कात्यायन[4], वसिष्ठ[5], लोहायन[6], शाडिल्य[7], कृष्णात्रेय[8], गौतम[9], पराशर[10], अत्रि[11], चन्द्रात्रेय[12], वाजसनय[13] इत्यादि गोत्रों का उल्लेख विभिन्न दानपत्रों तथा शिलालेखों में हुआ है। कहीं कहीं अभिलेखों में गोत्र के साथ शाखा व प्रवर का भी उल्लेख मिलता है। वि स 1076 के बासवाडा ताम्रपत्र में लिखा है—ब्राह्मण भाइलाय वामन सुताय वशिष्ठसगोत्राय वाजिमाध्यदिन शाखार्यैक प्रवरायच्छिदच्छा च्छानविनिर्गतपूर्व्व।[14] इसी प्रकार दुर्लभराज चौलुक्य के वि स 1067 के दानपत्र में भी शाखा व प्रवर उल्लिखित हैं।[15] गोत्र एवं प्रवरों की व्यावहारिक

---

1 काणे, पी वी धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ 286
2 वि स 1242 का वीरपुर दानपत्र, ओझा निबन्ध सग्रह, 2, पृ 196
3 दौलतपुरा ताम्रपत्र, इ आई, 5, पृ 208
4, वही।
5 वि स 1076 का बासवाडा ताम्रपत्र, आई ए 41, पृ 201
6 वि स 1069 का दुर्लभराज का ताम्रपत्र, 'मरु भारती' अप्रेल, 1965, 2, पृ 50
7 वि स 1102 का भण्डुण्ड अभिलेख, जे बी बी आर ए एस, 23, पृ 78
8 अर्ने का अभिलेख, एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, पुरातत्व विभाग, जोधपुर 1936, पृ 7
9 वि स 1243 का पुष्कर अभिलेख, ए आर आर एम अजमेर, 1919-20 पृ 3
10 वि स 1241 का खिपुद अभिलेख, सोमानी, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, पृ 180
11. वि स 1102 का भण्डुण्ड अभिलेख, जे बी बी आर ए एस 23, पृ 78
12 कल्याणपुर अभिलेख, इ आई, 30, पृ 1-7, मरु भारती, 1957, 4, पृ 32-33
13 वही।
14 आई ए, 41, पृ 210, इ आई, 11, पृ. 182
15 इ आई, 36, पृ 95

महत्ता थी। सगोत्र कन्याओं से विवाह निषिद्ध माना जाता था। मृतक का धन निकटतम सगोत्र सम्बन्धी को मिलता था। श्राद्ध मे सगोत्र ब्राह्मणों को यथा सम्भव आमन्त्रित नही किया जाता था। इसी प्रकार सप्रवर कन्या से भी विवाह निषिद्ध था। उपनयन सस्कार में मेखला में एक, तीन या पाच गाठें होती थी जो बच्चे के प्रवर ऋषि की सख्या की द्योतक होती थी।[1]

मुसलमानो के भारत मे आने से ब्राह्मणो मे स्थानीय व सकुचित भावनायें प्रबल होने लगी। ब्राह्मण हिन्दू सस्कृति के पोषक व सरक्षक माने जाते थे। उन्होंने अब जाति की शुद्धि पर अधिक बल देना शुरू किया। हमारा अध्ययनकाल कलिवर्ज्यों[2] का युग था। हिन्दू धर्म की प्राचीन उदारता कम होने लगी तथा अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाने लगे। समुद्र यात्रा करने वाले ब्राह्मण से उसके प्रायश्चित कर लेने के बाद भी सम्बन्ध करना निषिद्ध घोषित किया गया। विवाह, भोजन और सामाजिक सम्पर्क के नियमो को अधिकाधिक कठोर और जटिल बना दिया गया। शूद्रो के घर भोजन करना ब्राह्मणो के लिए वर्जित हो गया। जाति व्यवस्था का उल्लघन करने वालो को दण्डित किया जाता था। ऐसी परिस्थिति मे जातियो और उपजातियो मे वृद्धि स्वाभाविक थी। खान-पान आदि मे कठोर नियमो का पालन करने वाले और इस विषय मे कुछ सरल मार्ग अपनाने वाले ब्राह्मणो मे स्वत भेद हो गया। जो ब्राह्मण किन्ही कारणों से मुसलमानो के सम्पर्क म आये वे अन्य ब्राह्मणो द्वारा हीन दृष्टि से देखे जाने लगे।[3] राजस्थान के ब्राह्मण अपने को पूर्वी भारत के ब्राह्मणो से श्रेष्ठतर मानते थे, क्योंकि वहा के कुछ ब्राह्मण मासाहारी भी होते थे। इस पार्थक्य से राजस्थान के ब्राह्मणो का बाह्य सम्पर्क कम हो गया। इससे उनकी बौद्धिक प्रगति को आघात पहुचा।[4]

अध्यापन, पौरोहित्य (यजमानी या जजमानी) तथा प्रतिग्रह सामान्यत ब्राह्मणो की जीविका के मुख्य साधन थे। यज्ञ, अनुष्ठान आदि धार्मिक कार्य ब्राह्मणो द्वारा किये जाते तथा सम्पन्न कराये जाते थे। ब्राह्मणो द्वारा अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, सौत्रामणि, पशुबन्ध, चातुर्मास्य इत्यादि यज्ञ किये जाने का उल्लेख रत्नपाल के वि स 1176 के मेवाडी ताम्रपत्र म मिलता

1 विस्तृत अध्ययन के लिए दे, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ 284-288

2 वही, 2, पृ 981

3. मनाऊ, 1, पृ 134-35

4 गा अ ए, पृ. 444-45

है।[1] इसी प्रकार चौलुक्य द्वितीय भीमदेव के गुहिलवंशी सामन्त महाराजाधिराज अमृतपालदेव के वि.सं. 1242 के दानपत्र से ठाकुर शोभा को यज्ञकर्ता कहा गया है।[2] अमृतपालदेव के उपर्युक्त दानपत्र से विदित होता है कि उसने सूर्यग्रहण के पर्व पर अपने माता पिता के एवं अपने कल्याण के हेतु भारद्वाज गोत्र के रायक्वाल जाति के ब्राह्मण ठाकुर शोभा के पुत्र मदन को षटपचाशत मंडल के गातोड ग्राम का ल्हसाडिया नामक एक अरहट दो हलवाह भूमि तथा धान का खेत दान दिया था।[3] आल्हणदेव के वि.सं. 1218 के नाडोल ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उसने श्रावण शुक्ला चतुर्दशी के पर्व पर ब्राह्मणों व गुरुजनों को दान दिया था।[4] दुर्लभराज के वि.सं. 1069 के दान पत्र से विदित होता है कि तन्त्रपाल क्षेमराज ने भीनमाल मण्डल में क्षत्रियपद्र नामक गाव ब्राह्मण गोविन्द के पुत्र नलका को दान में दिया था।[5] राजस्थान से और भी ऐसे अनेक अभिलेख उपलब्ध है जिनमें ब्राह्मणों द्वारा दान प्राप्त किये जाने का उल्लेख है।[6]

ब्राह्मणों द्वारा धर्मार्थ बावडी इत्यादि निर्माण करवाये जाने के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। मण्डोर से प्राप्त एक अभिलेख में वर्णन है कि ब्राह्मण चणक के पुत्र माधू ने बावडी का निर्माण करवाया था।[7] वि.सं. 1102 के भण्डुण्ड अभिलेख में परमार राजा पूर्णपाल के समय में 22 ब्राह्मणों और एक क्षत्रिय ने मिलकर भूण्डिपद्र गाव में एक बावडी का निर्माण करवाया था।[8] ब्राह्मण पुरोहितों का कार्य करते थे इसका संकेत वि.सं. 1209 के किराडू-अभिलेख से मिलता है।[9]

---

1. इ. आई. 9 पृ. 308
2. ओझा निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 196
3. वही
4. इ. आई., 9 पृ. 64
5. 'मरु भारती', 1965 2, पृ. 50
6. (i) यथा चाहमान केल्हण के तीन ताम्रपत्र वि.सं. 1233 का बामनेरा ताम्रपत्र व अन्य दो तिथिविहीन लेख इ. आई. 13 पृ. 206
   (ii) भोजदेव का वि.सं. 1076 का बासवाडा ताम्रपत्र आई. ए. 41, पृ. 201
7. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, पुरातत्व विभाग, जोधपुर, 1934, पृ. 55
8. ज. बी. बी. आर. ए. एस., 23, पृ. 78
9. इ. आई. 11 पृ. 44

ब्राह्मण राजकीय प्रशस्तियो व अभिलेखो के लेखक तथा उत्कीर्णक होते थे। वि स 693 के कसवा (सिरोही) से प्राप्त अभिलेख का लेखक ब्राह्मण शिवगुप्त था।[1] वि स 1003 के प्रतापगढ-अभिलेख का लेखक पुरोहित त्रिविक्रमनाथ था।[2] परमार शासक पूर्णपाल के वि स 1099 के अभिलेख का रचयिता ब्राह्मण हरि का पुत्र मार्तंसमन था।[3] थवरडा (डूगरपुर) से प्राप्त महाराज सूर्यपालदेव (प्रतिहार शासक) के वि स 1212 के अभिलेख का रचयिता पण्डित श्रीधर का पुत्र पण्डित मईध था।[4]

अपेक्षया कम पढ़े लिखे ब्राह्मण अपनी जीविका स्वस्तिवाचन अथवा मन्दिरो मे पूजा करके अर्जित करते थे।[5] स्पष्टत सभी ब्राह्मण बुद्धिमान अच्छी स्मृति वाले एव धैर्यशील नहीं होते थे। बहुतो मे वेदाध्ययन करने की क्षमता ही नही थी। अध्यापन, पौरोहित्य तथा प्रतिग्रह वृत्तिया सभी ब्राह्मणो की सामर्थ्य व स्वभाव के अनुकूल नही थी। अत बहुत से ब्राह्मण इन तीन वृत्तिया के अतिरिक्त अथवा इनके बजाय जीविका के अन्य साधन भी अपनाते थे। धर्मशास्त्रो मे इसके लिए अनुमति दी गई है। गौतम ने लिखा है यदि ब्राह्मण शिक्षण (अध्यापन) पौरोहित्य एव प्रतिग्रह या दान से अपनी जीविका न चला सकें तो वे क्षत्रियवृत्ति (युद्ध एव रक्षण कार्य) अपना सकते हैं। यदि वह भी सम्भव न हो तो वे वैश्य-वृति से जीविका कमा सकते हैं।[6] हमारे अध्ययनकाल म भी ब्राह्मणो द्वारा क्षत्रिय तथा वैश्य वृतियों के पालन करने के उदाहरण मिलते हैं। कुछ विद्वाना का मत है कि गुहिल, मण्डोर के प्रतिहार, चाहमान और परमार प्रारम्भ में ब्राह्मण थे, कालान्तर म क्षात्रधर्म पालन करने पर वे क्षत्रिय कहलाए।[7] ब्राह्मण राजकीय नौकरिया म भी लगे थे। परमारो के शासनकाल मे सान्धिविग्रहिक और दूतक के पदों पर प्राय ब्राह्मणा की नियुक्ति होती थी। परमार देवपाल का सान्धिविग्रहिक महापण्डित बिल्हण था।[8] द्वितीय सीयक के हरसोल दानपत्र म ठकुर

1 वही, 36, पृ 47
2 वही, 14, पृ 176
3 वही, 9, पृ 11
4 वही, 46, पृ 225
5 वही, 33, पृ 140
6 गौतम 6/6-7
7 भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, पृ 19,
रा अ ए पृ, 447 दे आगे।
8 इ आई, 9, पृ 103-20

विष्णु का दूतक के पद पर कार्य करना प्रमाणित है।[1] गुजराती नागर ब्राह्मण स्कन्द व उसका पुत्र मोढ चाहमानो के मंत्री थे।[2] ब्राह्मण यदा कदा ग्राम व्यवस्था मे भी हाथ बटाते थे। नाडोल मे प्राप्त वि स 1198 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि धालोप ग्राम को ब्राह्मणो के आठ वार्डों म विभाजित किया था। प्रत्येक वार्ड से दो ब्राह्मण प्रतिनिधियों को लिया जाता था। गाव म शान्ति व कानून की व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व इन्ही ब्राह्मण प्रतिनिधियो पर था।[3] चीरवे के अभिलेख[4] म वर्णित तातेड जाति के ब्राह्मण 'तलार' पद और सैनिक सेवा मे दक्ष थ। पल्लीवाल ब्राह्मण पौरोहित्य मे दक्ष माने जाते थे।

ब्राह्मणो द्वारा वैश्य वृत्ति अपनाये जाने के उदाहरण भी राजस्थान के अभिलेखो मे मिलते है। तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के वि स 1234 के बाडले (अजमेर के निकट) अभिलेख से ज्ञात होता है कि कौशिक गोत्र के यशोराज के पुत्र (या पौत्र) द्वारा वाणिज्य से उपार्जित धन से एक वापी का निर्माण करवाया गया था।[5] श्रृगारमन्जरीकथा' मे ब्राह्मण महादेव द्वारा सिहल द्वीप मे व्यापार-व्यवसाय द्वारा अर्थोपार्जन कर पुन स्वदेश लौटने का उल्लेख है।[6]

हमारे अध्ययनकाल मे ब्राह्मणो द्वारा कृषि करने के प्रमाण भी अभिलेखो मे हैं। भूतपूर्व भरतपुर राज्य से प्राप्त (जो प्रतिहार साम्राज्य म सम्मिलित था) वि स 962 के कामा अभिलेख म आठ अनुदानो का वर्णन हैं जो सभी वि स 843-44 से लेकर 962-63 के बीच स्थानीय देवता शिव के नाम पर दिये गये थे। छटे आलेख म कहा गया है कि उद्भट नाम एक व्यक्ति ने अपने अधीनस्थ गाव मे तीन हलो से जोती जाने योग्य भूमि, जिसे पहले सहूल, जज्ज और अन्य ब्राह्मण जोतते थे और जिसे बाद मे एड्डवाक नामक हलिक ने जोता, दान कर दी थी।[7] परमार, चाहमान, चौलुक्य शासक व उनके सामन्त ब्राह्मणो को प्राय हलवाह भूमि, खेत आदि दान देते थे तथा गोचर भूमि की सुविधा प्रदान करते थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा

1 वही, 19 पृ 243
2 विरुद्धविधिविध्वस, 3, पृ 488
3 इ आई, 11 पृ 38-39
4 वियाना ओरियण्टल जर्नल 21 पृ 155-162
5 अ चौ डा, पृ 107
6 श्रृगारमन्जरीकथा, पृ 28
7 इ आई 45, पक्तिया 19-20

सकता है कि बहुत से ब्राह्मण कृषि तथा पशु पालन भी करते थे। बारामेरा से प्राप्त वि स 1220 के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि महाराजपुत्र कुमार सिंह के पुत्र अजयसिंह ने ब्राह्मण सधीरण के पुत्र नारायण को अपने गाव वोरट्टा मे एक भूमि क्षेत्र प्रदान किया था।[1] द्वितीय भीमदेव चौलुक्य के गुहिलवशीय सामन्त अमृतपालदेव के वि स. 1242 के पूर्वोदधृत ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि अमृतपालदेव ने ब्राह्मण यज्ञकर्ता ठाकुर शोभा के पुत्र मदन को षटपचाशत मण्डल के गातोड ग्राम का लहसडिया नामक एक रहट, दो हलवाह भूमि तथा धान का खेत दान दिया था।[2] आबू के धारावर्ष परमार के वि स 1237 के हाथल ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि शैवधर्म के आचार्य भट्टारक वीसलउग्रदमके को साहिलवाडा ग्राम तथा गोचर भूमि की सुविधा दी गई थी।[3] ब्राह्मणो का कृषि कर्म अपनाना स्यात् आपद् धर्म था परन्तु दानपत्रो मे'भुज्जमानस्य कर्षतात कर्षयतो' ऐसा उल्लेख मिलता है।[4] 'कर्षत' शब्द से हल जोतने का तात्पर्य है। एक अभिलेख मे वर्णन मिलता है कि एक राजा ने ब्राह्मणो से कृषि कर्म त्यागने और वेदाध्ययन मे समय व्यतीत करने के लिए प्रार्थना की थी—"यो विप्रान मितान हलि कलयत. काश्यैन वृतरल वेद सागम पाठयत् कलिगल ग्रस्ते धात्रीतले[5]।" ऐसा प्रतीत होता है कि विचाराधीन काल मे ब्राह्मणो को जीविकोपार्जन के हेतु षडकर्म के अतिरिक्त अन्य साधनो का अवलम्बन करना आवश्यक हो गया था।

नाडोल, जालोर, चन्द्रावती, गोडवाड आदि स्थानो मे, जहा जैन प्रभाव अधिक था, ब्राह्मणो को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा था और उनके चरित्र व्यवसाय आचार-विचार आदि पर टीका टिप्पणी की जाने लगी थी।[6] ब्राह्मणो का दावा था कि उन्हे अधिक से अधिक देशनिष्कासन का दण्ड दिया जा सकता है, वे मृत्यु दण्ड से मुक्त हैं। जैन उनके इस दावे को नही मानते थे। उनकी मान्यता थी कि कोई व्यक्ति केवल यज्ञोपवीत पहिनने व यज्ञ करने से ही ब्राह्मण नही हो जाता। ब्राह्मणो की श्रेष्ठता उनकी विद्वता, शुद्ध आचरण तथा व्यवहार कुशलता से आकी जानी चाहिए। ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले कर्मकाण्डो व उनकी अस्पृश्यता सम्बन्धी विचारो की जैन

1. वही, 13, पृ 206
2 ओझा, निबन्ध सग्रह, 2, पृ. 196
3 आई ए 43, पृ.193-94
4 द. आई, 20, पृ 131; आई ए, 16, पृ.208
5. वही, 21, पृ 278-82
6 द्र जिनेश्वर, कथाकोष, कथा सख्या 32

कटु आलोचना करते थे।[1] परन्तु जैनो का प्रभाव स्थानीय व सीमित था। वस्तुतः हमारे अध्ययनकाल मे ब्राह्मणो का समाज में उच्च स्थान बराबर बना रहा।

राजपूत

विचाराधीनकाल मे अथवा इसके कुछ समय पूर्व एक नयी जाति का उदय हुआ। यह जाति 'राजपूत' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्राचीन क्षत्रियो के समान देश के वर्णाश्रम धर्म तथा हिन्दू सस्कृति की रक्षा करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। 'ललितविग्रहराज' के अनुसार चतुर्थ विग्रहराज अपने मित्रराजाओ, ब्राह्मणो, देवस्थानो और तीर्थों की तुर्कों से रक्षा करना अपना विशेष कर्त्तव्य मानता था।[2] यद्यपि कर्त्तव्य की दृष्टि से यह जाति क्षत्रिय ही थी तथापि इसे प्राचीन क्षत्रियो की सन्तान मान लेना उचित नही होगा। राजपूत जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनेक मत है।[3] जैसे ही इस जाति की प्रधानता समाज मे स्वीकृत होने लगी धर्माधिकारियो, विद्वानो और भाटो ने इसका सम्बन्ध सूर्य, चन्द्र, अग्नि इत्यादि हिन्दू देवताओ से जोड दिया। परन्तु यूरोपीय तथा कुछ स्थानीय विद्वानो ने उनकी उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को स्वीकार नही किया है। उनके अनुसार राजपूत जाति का प्राचीन वैदिक क्षत्रियो से कोई सम्बन्ध नही था। वे उ ह यूची, शक, हूण, गुर्जर

---

1 रा थ्. ए, पृ 445
2 आई ए, 20 पृ 210
3 इस समस्या पर द्र ओझा, गो ही, राजपूताने का इतिहास 1, पृ 41-76
वैद्य, सी वी, हिस्टरी ऑफ मेडिवल इण्डिया, 2, पृ 7-64
जेम्स टॉड, एना एन्टी राज 1, पृ 68-98
बनर्जी, ए सी, राजपूत स्टडीज अ प्रथम
भाण्डारकर डी आर, गुहिलोत्स, जे पी ए एस बी, 1999, पृ 176
गुर्जर्स, जे बी बी आर ए एस, 21, पृ 405
मजूमदार, आर सी, द गुर्जर प्रतिहारज, जे डो एल, 10 पृ 1-76
भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज पृ 8-20
रायचौधरी, जी सी, गुहिलोत्स् ओरिजन्स, डी आर भाण्डारकर वाल्यूम् 31-316
शर्मा, दशरथ, परमारो की उत्पत्ति, राजस्थान भारती, वर्ष, 3, 2 गुर्जर शब्द का अर्थ, मरु भारती, 8, 2, पृ 46 ओरिजन ऑफ प्रतिहारज, पूना ओरियण्टलिस्ट, 2, अ चौ डा, पृ 1-26

आदि विदेशी जातियो की सन्तान मानते हैं। टॉड, क्रूक, भाण्डारकर आदि इस मत के पोषक हैं। इसके विपरीत सी वी वैद्य राजपूतो को विशुद्ध क्षत्रियो की सन्तान मानते है। ओझाजी ने मध्यम मार्ग अपनाया है। उनकी मान्यता है कि राजपूतो की नसो मे क्षत्रिय रक्त तो प्रवाहित था ही, परन्तु इसके साथ ही कुषाण, शक, हूण आदि अनार्य जातिया भी इनमे घुलमिल गई थी। दशरथ शर्मा व कुछ अन्य विद्वानों ने प्राचीन अभिलेखो के आधार पर कुछ राजपूतो को ब्राह्मणवशी स्वीकार किया। वि स. 918 के घटियाला अभिलेख से ज्ञात होता है कि मण्डोर के प्रतिहार ब्राह्मण हरिचन्द्र की सन्तान थे।[1] हलायुध ने अपने ग्रथ 'पिंगलसूत्रवृत्ति' मे परमार मुन्ज को 'ब्रह्मक्षत्रकुलीन' कहा है।[2] अर्बुद मण्डल के परमार अग्नि मे आस्था रखने वाले वसिष्ठ ब्राह्मण थे जिन्होंने शत्रुओं का सहार करने के हेतु शस्त्रो का प्रयोग किया। इसका उल्लेख वि. स 1099 के वसन्तगढ अभिलेख मे मिलता है।[3] वि स 1226 के बिजोलिया अभिलेख मे चाहमानो को वत्सगोत्रीय ब्राह्मण बताया गया है।[4] सूण्डा[5] व अचलेश्वर[6] अभिलेखो मे क्रमश जालौर और चन्द्रावती के चाहमानो को ब्राह्मण बताया गया है। वि स 1034 के आटपुर अभिलेख मे गुहिलो को 'विप्रकुल' का बताया गया है।[7] वि स 1331 के आबू अभिलेख[8] म रावल समरसिंह को तथा वि स 1342 के उसी स्थान से प्राप्त अभिलेख[9] म गुहिलवशी बापा रावल को ब्राह्मण माना गया है। गोपीनाथ शर्मा न कुम्भलगढ प्रशस्ति की द्वितीय पट्टिका के पद्यास के आधार पर आग्रह किया है कि गुहिलवशी बापा रावल आनन्दपुर के ब्राह्मण वश स सम्बन्धित था।[10] बापा के उपरान्त भर्तृपट्ट का भी चाटसू अभिलेख[11] मे 'ब्रह्मक्षत्री'[12] (वह जिसे ब्राह्मण से क्षत्रियत्व प्राप्त

1 इ आई, 9, पृ 277-81
2 पिंगलाचार्यकृत छन्दशास्त्र, अ 4, श्लोक 19 की टीका
3 इ आई, 9, पृ 11-12
4 वही, 26, पृ 80
5 वही, 9, पृ 70-77
6 जे ए एस बी, 50, पृ 48, औ आई, 5, पृ 83-87
7 इ आई 39, पृ 191
8. प्राकृत और सस्कृत अभिलेखो का सग्रह, पृ 75
9. इ आई 16, पृ 347
10 पी आई एच सी 1951 पृ 367-72
11 इ आई, 12, पृ 10
12 'ब्रह्मक्षत्र' शब्द की व्याख्या के लिये दे, पाठक, वी ए हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, पृ 112,146,165-169

हुआ) कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि महाराणा कुम्भा के काल तक गुहिलो को ब्राह्मणवशी स्वीकार किया जाता था।

राजपूतो की उत्पत्ति मे एक तत्त्व गणजातियो का भी प्रतीत होता है। मालव, आर्जुनायन, मद्रक, यौधेय आदि अनेक गणजातिया, जो भारत मे लगभग 400 ई तक विद्यमान थीं, अचानक राजनीतिक रगमच से लुप्त हो जाती है। उनके विलोप व राजपूतो के अविर्भाव मे मात्र दो तीन शतो का अन्तर है। अत' यह अनुमान निस्सार नहीं कहा जा सकता कि 'राजपूत' जाति के आविर्भाव मे इन गण जातियो का भी योगदान था। यौधेयो की जोहिया राजपूतो के रूप म पहिचान इस प्रसग मे उल्लेख्य है।

यहा उक्त मतो का सविस्तार विश्लेषण आवश्यक नही है। साराशत हम यह कहेगे कि शक, पल्लव, हूण आदि विदेशी बडी सख्या मे आये और शनैः शनै भारतीय समाज मे विलीन हो गए। वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सके। भारत की युद्धजीवी जातियो ने इन विदेशी आक्रातामो को दबाया और मूलत समानधर्मी होने से अपने मे मिला लिया। समाज मे स्वत ही यह धारणा बन गयी थी कि सभी युद्ध जीवी जन क्षत्रिय हैं। अत आवश्यकता केवल इस बात की थी कि विदेशी जन वैदिक धर्म और परम्परा को अपना लेते। वस्तुत उनके भारतीयकरण की प्रक्रिया बहुत पहले से ही आरम्भ हो गई थी। शको ने भारतीय नरेशो मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। प्रथम रूद्रदामा ने अपनी पुत्री का विवाह सातवाहन राजकुमार से किया था।[1] उनके विवाह सम्बन्ध दक्षिण के इक्ष्वाकुओ से भी हुए थे। एक उत्तर भारतीय अभिलेख मे महादेवी प्रभुदामा का उल्लेख मिलता है। दशरथ शर्मा ने उसे समुद्रगुप्त की पत्नी माना है।[2] समुद्रगुप्त के अन्त पुर म कुषाणादि परिवारो की राजकुमारिया थी।[3] यश कर्ण चेदि हूण राजकुमारी से उत्पन्न हुआ था।[4] राजस्थान मे हमारे अध्ययनकाल म हरियादेवी नामक हूण कन्या का विवाह गुहिलवशी अल्लट के साथ हुआ था जैसाकि वि स 1034 के शक्तिकुमार के अभिलेख से स्पष्ट है।[5] क्षात्रधर्म अपनाने वाले ब्राह्मणो का क्षत्रियो म विलोप और भी सहज था क्योकि दोनो समान

1 जूनागढ प्रशस्ति एव कन्हेरी अभिलेख के सम्मिलित साक्ष्य के आधार पर यह माना जाता है।
2 पी आई एच सी , 1956, पृ 146-48
3 कार्पस, 3, पृ 6
4 आई ए , 39, पृ 191
5 वही।

जीवन पद्धति एव धर्म के अनुयायी थे। अत यह धारणा सत्य प्रतीत होती है कि नवोदित राजपूत जाति मे विदेशी जातियो, ब्राह्मणो, गणजातियो व क्षत्रियों इन सभी तत्वो का सम्मिश्रण था।

हमारे अध्ययनकाल मे राजपूत विभिन्न कुलो म विभाजित हो गये थे। उन्होंने अपने पुरोहितो के गोत्रो को अपना लिया था। यथा, मेवाड के गुहिलवशियो के तीन भिन्न-भिन्न गोत्रों का पता चलता है। मेवाड के गुहिलवशियो का गोत्र 'वैजवाप' था[1] जबकि वि स 1243 के पुष्कर से प्राप्त सती स्तम्भ अभिलेख से स्पष्ट होता है कि ठाकुर कोल्हण गुहिलवशी और गौतम गोत्री था।[2] काठियावाड के गोहिल भी गौतम गोत्री कहलाते थे।[3] गुहिलवशी विजयसिंह के मध्यप्रदेश के दमोह से प्राप्त शिलालेख मे उसे विश्वामित्र गोत्री कहा गया है।[4] इसी प्रकार चौलुक्य मानव्य गोत्रीय भी थे और भारद्वाज गोत्रीय भी।[5] इस गोत्रवैभिन्य का कारण यह प्रतीत होता है कि राजपूतों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रो के आधार पर माने गए थे। अलग अलग प्रदेशो म बसने पर तत्क्षेत्रीय पुरोहितो के गोत्र धारण करना प्रथा बन गई। मिताक्षरा के अनुसार जिन क्षत्रियो और वैश्यो के स्वय के गोत्र व प्रवर नहीं होते उन्ह अपने पुरोहितो के गोत्र व प्रवर अपना लेना चाहिये।[6] सम्भवत उक्त प्रथा इस शास्त्रीय आदेश के अन्तर्गत विकसित हुई थी। यवन, शक, कुषाण और हूण आदि जातियो ने कालातर म वैदिक आदर्शों व परम्पराओ को अपना लिया था। प्रथम रुद्रदामा सस्कृत भाषा का विद्वान् था।[7] यवन हेलियोडोरस ने भागवत धर्म का अनुसरण किया था।[8] कनिष्क बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था और हूण मिहिरकुल ने शैव धर्म अपना लिया था।[9] इस प्रकार विदेशियो का शनै शनै भारतीयकरण होता गया। 'हरकेलि नाटक' का लेखक भास्कर हूण वश मे उत्पन्न गोविन्द का पौत्र था।[10]

1 ओझा, गौ ही, राजपूताने का इतिहास, 1, पृ 352
2 ए आर आर एम अजमेर, 1920-21, पृ 3
3 ओझा, गौ ही, राजपूताने का इतिहास, 1, पृ 353 पर उद्धृत
4 वही।
5 वही।
6 याज्ञवल्क्यस्मृति, 1, 53 पर टीका
7 सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ 179
8 वही, पृ 88-89
9 कार्पस, 3, पृ 142-48
10 आई ए., 20, पृ 210

'कान्हडदेप्रबन्ध' में राजपूत वंशों की सूची में हूणों को भी सम्मिलित किया गया है। इस ग्रंथ में छत्तीस राजपूत कुलों का उल्लेख है। इनमें से कतिपय राजपूत कुलों का विशेष विवरण दिया गया है यथा चौहान, वाघेला, सोलंकी, राठौड़, परमार, बारड, हूण, हरियड, चावडा, डाडिया, जादव, हूल, निकुम्भ और गोहिल।[1] यह रचना 15 वीं शती के मध्य की है। इस समय परमारों और प्रतिहारों की तुलना में राठौड़ और चौहान अधिक प्रतिष्ठित थे। हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों में भी राजपूत कुलों व शाखाओं की जानकारी होती है। इनमें भाटी,[2] वराह या विराहा, प्रतिहार[3] या पड़िहार, तोमर,[4] मोहिल,[5] बला, जेटवा, दाहिमा, दाहिया[6] चन्देल[7] आदि सम्मिलित हैं।

वैश्य

परम्परा से वैश्य कृषि, व्यापार और वाणिज्य कर्म करते थे। अनेक क्षत्रियों ने युद्धवृत्ति का परित्याग कर वैश्यवृत्ति अपना ली थी, जिससे उनकी गणना भी वैश्यों में होने लगी थी। वि सं 1353 के सामन्तसिंह के जालौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसमें उल्लिखित दान के दाता नरपति के भाई व पिता ओसवाल जातीय सोनी थे[8] जबकि नरपति के पूर्वजों को 'ठक्कुर' कहा जाता था। उन्होंने अहिंसा प्रधान जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, इसलिये कालान्तर में लोगों ने उन्हें ठक्कुर कहना छोड़ दिया था। इसी प्रकार 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' से ज्ञात होता है कि नाडोल राज्य के संस्थापक

---

1 खण्ड 3 चउपाई संख्या 37-39 पृ 108
कान्हडदेप्रबन्ध में प्रदत्त सूची में राजपूतकुलों की संख्या छत्तीस मानी जाती है। परन्तु दशरथ शर्मा ने राजस्थान थ्रू द एजिज में चउपाई 38 से आगे उद्धृत की है और वर्णित कुलों की संख्या सोलह मानी है। गोपीनाथ शर्मा ने भी दशरथ शर्मा का अनुसरण किया है। वस्तुतः चउपाई 37 से ही कुलों का उल्लेख आरम्भ हो जाता है। कुलों की संख्या भी केवल चौदह है। देवडा कुल का यहां उल्लेख नहीं है।

2 वि सं 891 का बाउक का अभिलेख, जे बी ए एस 1894, पृ 1

3 वि सं 872 का बुचकला अभिलेख, इ आई, 9, पृ 199

4 वि सं 1030 का हर्ष अभिलेख, जे ए एस. बी, 4, पृ 361

5 वि सं 1248 का उस्त्रा देवली अभिलेख, पी आर ए एस. डब्ल्यू सी, 1911-12, पृ 53

6 वि सं 1056 का किणसरिया अभिलेख, इ आई, 12, पृ 59

7 वि सं 1243 का रेवासा अभिलेख, अ चौ डा, पृ. 107

8 इ आई, 11, पृ 61

चाहमान लक्ष्मण ने किसी श्रेष्ठी की पुत्री से विवाह किया था। इससे उत्पन्न पुत्र को कोषाध्यक्ष बनाया गया और उन्हें वैश्य कहा गया।[1] राजकीय भण्डारो के अधिकारियो को भण्डारी कहा जाने लगा और वे श्रोसवाल माने जाने लगे। अग्रवाल, माहेश्वरी, जायसवाल और खण्डेलवालो का भी उद्भव इसी प्रकार क्षत्रियो से ही माना जाता है। शीलादित्य के अभिलेख[2] और 'कुवलयमाला' तथा 'कान्हडदेप्रबन्ध' जैसे ग्रथो मे व्यापार करने वाले लोगो को वैश्य की सज्ञा दी गई है। श्रीमाल किरातकूप और श्रोसिया जैसे नगरो की समृद्धि का कारण वैश्य ही थे। परन्तु वैश्यो के कुछ परम्परागत व्यवसाय यथा कृषि और पशुपालन शनै शनै शूद्रो ने भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया था।[3] जबकि वैश्य इनसे विमुख होने लगे। सम्भवत वैश्य इन व्यवसायो का परित्याग इसलिये करने लगे क्योकि इनमे हिंसा की सम्भावना बनी रहती थी।

वैश्य वर्ण मे भी व्यवसाय और स्थान विशेष के आधार पर अनेक जातिया व उपजातिया बन गई थी। प्रागवाट,[4] उपकेश,[5] श्रीमाल,[6] धर्कट[7] इत्यादि वैश्य जातियो ने धार्मिक और साहित्यिक जीवन को ठूसर,[8] महेश्वरी[9] व कुछ

---

1 रा श्रू ए, पृ 439

2 आई ए 29 पृ 189
महाजन शब्द का प्रयोग हुआ है जो समुदाय या सघ का द्योतक है।

3 बील, बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ द वेस्टर्न वल्ड, 1 पृ 64

4 वि स 1201 का दिलवाडा (आबू) अभिलेख, इ आई, 9 पृ 151

5 नाहर जे ले स 1, पृ 248

6 वि स 1201 का दिलवाडा अभिलेख इ आई 9 पृ 151

7. वि स 1117 का भीनमाल अभिलेख, बो जी 1, पृ 472 सकराय माता अभिलेख से ज्ञात होता है कि धर्कट परिवार का श्रेष्ठिन गर्ग गोष्ठिक था। धर्कट जाति जैन और माहेश्वरी दोनो मे ही होती है। भीनमाल के पास धरकटगढ स्थान से सम्भवत इस जाति का उदय हुआ। द्र जैन, के सी एन्शेन्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ 395

8 हर्ष सम्वत् 201 क खण्डेला अभिलेख मे ठूसर वशीय आदित्यनाग ने अपने माता पिता के पुण्य की वृद्धि के लिए खण्डेला के अर्द्ध नारीश्वर मदिर का निर्माण करवाया था। ठूसर आजकल अपने आपको भार्गव ब्राह्मण मानते हैं, परन्तु ठूसर जातीय दुर्गावर्धन ब्राह्मणो को परितुष्ट करने वाले वणिक के रूप मे प्रसिद्ध था। द्र, अकबरनामा, 1, पृ 617 अकबर का मत्री हेमू बक्काल भी ठूसर जाति का था।

9 ए आर. आर एम अजमेर, 1927 पृ 3

अन्य वैश्य जातियां प्राचीन वैदिक धर्म के ही अनुयायी बनी रही जबकि अन्य अनेक वैश्य जनों ने जैन धर्म अपना लिया था। 'रविकरलता' में वैश्यों को मंत्री पदों पर नियुक्त करने की संस्तुति की गई है। विचाराधीन काल में गुजरात और राजस्थान में वैश्यों को मंत्रियों के रूप में भी नियुक्त किया जाता था। वैश्य जातीय वस्तुपाल और यशोवीर जालोर के शासक उदयसिंह के प्रमुख मन्त्रदाता थे।[1] नाडोल के कटुकदेव का बलाधिप यशोदेव वैश्य जातीय था।[2] वैश्य रामदेव तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के काल का प्रसिद्ध मल्ल (पहलवान) था।[3] हमारे अध्ययनकाल के पश्चात् भी यह परम्परा चलती रही। उदाहरणतया शाह वस्तुपाल और तेजपाल प्राग्वाटवंशी वीर धवल के मंत्री थे।[4]

शूद्र

प्राचीन आचार्यों के अनुसार शूद्रों का मुख्य कर्त्तव्य द्विजों की सेवा और सहायता करना था जबकि इनके भरण-पोषण का उत्तरदायित्व द्विजों पर था।[5] यदि शूद्र उच्च वर्णों की सेवा से अपनी या अपने कुटुम्ब की जीविका नहीं चला पाता था तो वह बढ़ईगिरी, चित्रकारी, पच्चीकारी और रंगसाजी जैसे उद्योगों द्वारा जीविकोपार्जन करता था।[6] आपत्काल में शूद्र क्षत्रियों एवं वैश्यों का कार्य भी कर सकते थे।[7] 'कथाकोषप्रकरण' और 'देशीनाममाला' जैसे मध्यकालीन ग्रंथों में दस्तकारी अथवा खेती में लगी हुई कई जातियों की गणना शूद्रों में की गई है। इनमें कुम्हार, माली, तम्बोली, तेली, नाई, लुहार, खाती, सुनार, ठठेरे, दर्जी, गड़रिये आदि मुख्य हैं।[8] जब वैश्यों ने व्यापार-वाणिज्य को अपनी जीविका का प्रधान आधार बना लिया तब शूद्रों ने खेती, पशुपालन और दस्तकारी के पेशे भी अपना लिये। शैव और जैन धर्म के सुधारकों ने शूद्रों के प्रति हीन भाव नहीं अपनाया। इससे शूद्रों की सामाजिक स्थिति में न्यूनाधिक सुधार हुआ। इस समय के कुछ तान्त्रिक

---

1. अ. चौ. डा., पृ. 173-74
2. वि. स. 1172 का कटुकराज का सेवाडी ताम्रपत्र, इ. आई., 11, पृ. 30
3. अ. चौ. डा., पृ. 277
4. इ. आई., 8, पृ. 208
5. आपस्तम्ब 1-1-1-7-8
6. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ. 148
7. वही।
8. शर्मा, जी. एन., राजस्थान का इतिहास, पृ. 116

गुरु स्वयं शूद्र थे। नवी शताब्दी के टीकाकार मेधातिथि ने शूद्रो को द्विजो की सेवा से मुक्ति का समर्थन किया है और उन्हे व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार भी दिया है। उसने शूद्रो के लिए बिना मन्त्रोच्चारण के सस्कारो के पालन करने का प्रावधान भी किया है।[1] आठवी शती से बारहवी शती के काल मे खेती तथा दस्तकारी मे लगे हुए समुदायो की अलग अलग जातिया मानी जाने लगी थी। शूद्रो को मन्दिरो की व्यवस्था से सम्बन्धित किए जाने के उदाहरण भी मिलते है। उन्हें ग्राम और नगर की सुरक्षा समितियो का सदस्य बनाया जाता था।[2] कभी कभी उन्हे उच्च राजकीय पदो पर भी नियुक्त किया जाता था। चौलुक्य नरेश कुमारपाल ने सज्जन नामक कुम्हार को चित्तौड का प्रशासक नियुक्त किया था।[3] एक अभिलेख मे उसे 'दण्डाधीश' कहा गया है।

कालान्तर मे द्विजो की भाति शूद्रो मे भी अनेक उपजातियो का विकास हुआ, यथा मेहर जाति जिसका उल्लेख चाहमान अभिलेखो मे हुआ है। हमारे अध्ययनकाल से कुछ परवर्ती ग्रन्थ 'कान्हडदेप्रबन्ध' मे अनेक वृत्तिक (पेशेवर) जातियो का उल्लेख हुआ है यथा बाड्, कहर, सुथार, माली कुम्हार, लौहार, सिलावट, तम्बोली, दर्जी, घाची, सुनार, भट्टियार और वगनीघडा।[4] इन जातियो की गणना सम्भवत शूद्रो मे ही की जाती थी। इन जातियो के आर्थिक क्रियाकलाप सामान्यत स्थानीय सघो के माध्यम से, जिन्हे श्रेणी कहा जाता था, सम्पन्न होते थे।[5] कामा से प्राप्त नवी शती के एक अभिलेख मे कुम्भकारो, शिल्पियो और मालियो की श्रेणिया का उल्लेख हुआ है।[6]

यद्यपि समकालीन अभिलेखो और ग्रन्थो मे कुछ अन्य जातियो का उल्लेख भी मिलता है तथापि चातुर्वर्ण्य जाति व्यवस्था मे इनकी स्थिति अनिश्चित है। इनमे से कुछ जातियो का विवरण अधोलिखित है—

---

1 मेधातिथि, 3, पृ 136

2 वि स 1250 के एक पाल अभिलेख मे एक मेहर द्वारा स्थानीय मदिर को दान देने का उल्लेख है। इसी स्थान के एक अन्य अभिलेख मे मेहरो को स्थानीय सभा मे स्थान दिए जाने की चर्चा है।

3 कुमारपालदेव चरित, पृ 165, वि स 1207 के कुमारपाल के चित्तौड अभिलेख मे दण्डाधीश सज्जन द्वारा भगवान सिद्धेश्वर के लिए तट का एक भाग दान मे दिए जाने का उल्लेख है। (इ आई, 2, पृ 422)

4. कान्हडदेप्रबन्ध, 2, श्लोक 87 92

5. मजुमदार, कारपोरेट लाइफ इन एन्शेन्ट इण्डिया

6 इ आई, 24, पृ 329

आभीर

'महाभारत' में आभीर दस्यु एवं म्लेच्छ कहे गए हैं, जिन्होंने पंचनद के युद्ध के उपरान्त अर्जुन पर आक्रमण करके वृष्णि-नारियों का अपहरण कर लिया था।[1] मनु के अनुसार आभीर ब्राह्मण पुरुष एवं अम्बष्ठ कन्या की सन्तान होते हैं।[2] दण्डी ने अपभ्रंश को आभीरों की भाषा कहा है।[3] कालान्तर में आभीर हिन्दू समाज में पुनः मिल गए।[4] रुद्रभूति नामक एक आभीर सेनापति ने रुद्रदामा के पुत्र रुद्रसिंह के शासनकाल में एक कूप बनवाया था।[5] वि.सं. 918 के घटियाला अभिलेख में कहा गया है कि पहले रोहिंसकूप गाँव (घटियाला) में विद्वान् अथवा सज्जन नहीं रहते थे क्योंकि यह आभीरों से ग्रस्त था।[6]

कायस्थ

पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों से कायस्थों की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है। धर्मशास्त्रों और गुप्तकालीन अभिलेखों में कायस्थ लेखकों के रूप में उल्लिखित हैं।[7] हमारे अध्ययनकाल में लेखकों के रूप में कायस्थों का सर्वप्रथम उल्लेख कनसुआ अभिलेख में हुआ है। इस प्रशस्ति की रचना गाभिकागज नामक कायस्थ ने की थी।[8] गौ.ही. ओझा के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय इत्यादि जातियों के जो लोग लेखक या अहलकारी का काम करते थे वे कायस्थ कहलाये। कालान्तर में उनका विकास एक स्वतंत्र जाति के रूप में हुआ।[9] कायस्थ जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने बंगाल के कायस्थों को शूद्र माना है।[10] 'व्यास स्मृति' में कायस्थ नाइयों, कुम्हारों इत्यादि शूद्रों के साथ परिगणित हुए हैं।[11] इलाहाबाद

---

1 महाभारत, मौसलपर्व (7/46-63 एवं 8/16-17)
2 मनु 10.15
3 काव्यादर्श 1-36
4 काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ. 126
5 इ. ऍ., 16, पृ. 235
6 वही, 9, प. 277 आजकल आभीर को अहीर कहा जाता है। द्र. जे बी बी आर ए एस, 21, पृ. 430, 433
7 मिताक्षरा 1/335
8 आई. ए., 19, पृ. 57
9 ओझा, गौ. ही., मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 48
10 काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 128 पर उद्धृत
11 व्यासस्मृति 1/10-11

तथा पटना उच्च न्यायालयों ने इसको 'द्विज' बताया है।[1] उशना ने कायस्थों की विचित्र उत्पत्ति बताई है। इस मत के अनुसार काक (कौआ) शब्द के 'का', 'यम' के 'य' एवं स्थपति के 'स्थ' अक्षरों से 'कायस्थ' शब्द बना है। 'काक' 'यम' एवं 'स्थपति' शब्द क्रम से लालच, क्रूरता एवं लूट के परिचायक हैं।[2] परन्तु 'भविष्यपुराण' और पद्मपुराण में कायस्थों को क्षत्रियों की सन्तान कहा गया है।[3] वास्तव कायस्थ क्षत्रिय जाति के हैं जैसाकि सोढ्ढल रचित 'उदयनसुन्दरीकथा' से ज्ञात होता है।[4]

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेख लेखन का कार्य प्रमुखतः कायस्थों ने किया था। अलनट के वि स 1010 के अभिलेख का लेखक कायस्थ पाल वेल्लक था।[5] वि स 1051 के बालेरा दानपत्र को लिखने वाला कायस्थ काचन था।[6] वि स 1190 के इगनौडा अभिलेख का लेखक कायस्थ कल्हण था।[7] वि स 1226 के बिजोलिया अभिलेख का लेखक कायस्थ केशव था।[8] कायस्थ कवियों का भी उल्लेख मिलता है। चाहमान दुर्लभराज के वि स. 1056 के किणसरिया अभिलेख में गौड कायस्थ कवि कल्या का उल्लेख है।[9] वि स 1213 के नाडोल से प्राप्त प्रतापसिंह के ताम्रपत्र में गौड कायस्थ पण्डित महिपाल का उल्लेख हुआ है।[10] अनेक अभिलेखों में इन्हें 'ठाकुर' उपाधि से विभूषित किया गया है। नाडोल से प्राप्त वि स 1198 के अभिलेख में ठाकुर पेथड का उल्लेख है।[11] नरहड से प्राप्त वि स 1215 के एक अन्य अभिलेख में ठाकुर श्री श्रीचन्द्र का उल्लेख है।[12] नाणा से प्राप्त वि स 1257 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि गौड कायस्थ उदयसिंह ने ब्राह्मणों को कपिल में

1 काणे, पी वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ 128 पर उद्धृत
2 उशना, 35
3 सरकार गोपालचन्द्र, ए ट्रिटाइज ग्रान हिन्दू ला, पृ 143 पर उद्धृत
4 द्र, 'उदयनसुन्दरीकथा' की भूमिका।
5 वी आई, 2, पृ 67-68
6 इ आई, 10, पृ 20
7 आई ए, ० पृ 55-56
8 इ आई, 26, पृ 84
9 वही, 12 पृ 59
10 आई ए 41, पृ 203
11 इ आई, 11, पृ 39
12 अ चौ हा, पृ 203

33 द्रम्म और 6 विशोपक उसकी व्यवस्थार्थ दिये थे।[1] 'ठाकुर' उपाधि तथा दान से ऐसा आभास होता है कि समाज मे अब इनकी स्थिति सम्मानपूर्ण हो गयी थी। कायस्थ राज्यकार्य मे भी भाग लेते थे। वालभ जाति का कायस्थ अथूर्णा के परमार राजा विजयराज का सान्धिविग्रहिक था।[2] उदयपुर मे विक्टोरिया हाल से प्राप्त परमार अभिलेखो मे रुद्रादित्य और उनके पौत्र महिपाल को 'कायस्थ कुजर' कहा गया है।[3]

कालान्तर मे कायस्थो मे भी उनके निवास स्थानो के आधार पर अनेक क्षेत्रीय उपजातिया बन गयी। उदाहरणार्थ, मथुरा के निवासी माथुर, गौड (बगाल) के निवासी गौड कहलाये थे।

अन्त्यज

समाज का निम्नतम वर्ग अन्त्यज माना जाता था। मनु ने शूद्रो के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया था। अत्रि ने निम्नलिखित सात अन्त्यजो का उल्लेख किया है—रजक (धोबी), चर्मकार, नट (बास का काम करने वाला) कैवर्त (मछली मारने वाला), मेद और भिल्ल।[4] 'व्यासस्मृति' मे चर्मकार भट, भिल्ल, रजक, पुष्कर नट, विराट, मेद, चाण्डाल, दाश, श्वपच तथा कोलिक-इन 12 अन्त्यजो की सूची प्राप्त होती है।[5] अलबरूनी ने निम्न 12 अन्त्यजो का उल्लेख किया है—नट, वरूड, कैवर्त, जलोपजीवी, व्याध तन्तुवाय, रजक, चर्मकार, हाडी, डोम, चाण्डाल व वधातु।[6] इनमे से प्रथम पाच की सामाजिक स्थिति अपेक्षया ऊची थी। इनमे परस्पर वैवाहिक सबध होते थे। अन्तिम चार के साथ अन्य अन्त्यजो का सम्बन्ध नहीं होता था। इन्हे अपने अपने व्यवसायो के आधार पर पृथक जातियो के रूप मे माना जाता था।

अन्त्यजो का सामाजिक स्थान उनके व्यवसाय तथा स्वतन्त्रता के आधार पर निश्चित होता था। मेद मेवाड के जगली व पहाडी क्षेत्र मे रहते थे।

---

1 पी आर ए एस, डब्ल्यू. सी, 1907-8, पृ 49
वि स 1306 के भीनमाल अभिलेख मे माथुर कायस्थ परिवार के सदस्यो द्वारा 40 द्रम्म धार्मिक व्यवस्था हेतु जमा करवाये जाने का उल्लेख हुआ है (इ आई, 11, पृ 57)
2 वीरविनोद, 2, पृ 1197-98
3 ए एस आई, 1936-37, पृ 124
4 मनु, 199
5 व्यासस्मृति, 1, 12-12
6 अलबरूनी का भारत, 1, पृ 101

इस क्षेत्र मे इनका प्रभाव था। भील अन्त्यज भी अरावली के पर्वतीय क्षेत्र म रहते थे। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र मे मीना जाति थी। ये लोग लूट खसोट से जीविकोपार्जन करते थे। बावरी जाति का उल्लेख जालोर के वि स 1239 के एक अभिलेख[1] म हुआ है। दशरथ शर्मा का मत है कि सम्भवत लक्ष्मण चाहमान को नाडोल राज्य की स्थापना मे मीना, भील और बावरियो ने सहायता प्रदान की थी।[2]

'उपमितिभवप्रपचकथा' मे अन्त्यजो का यत्र तत्र उल्लेख है। मातगो के घर बहुत गदी बस्तियो म होत थे।[3] यहां पर भी सकेतित है कि सामाजिक जीवन मे उच्चतम स्थिति 'महाराज' की थी और निम्नतम चाण्डालो की। यद्यपि अभिलेखो मे उनके जीवन से सम्बन्धित विस्तृत सूचनाए नहीं मिलती तथापि साहित्यिक ग्रथो म इस पर प्रकाश डाला गया है।[4]

स्त्रियों का समाज में स्थान

यद्यपि स्त्रियो का समाज मे सम्मानपूर्ण स्थान था तथापि पुत्री-जन्म को अच्छा नहीं माना जाता था। 'ज्ञानपचमीकथा'[5] तथा 'उपमितिभवप्रपच कथा'[6] के उल्लेखानुसार अधिक सख्या म पुत्रियो का होना नरकवत् था। साधारणतया लोग पुत्र प्राप्ति का इच्छा करते थे।[7] पुत्र जन्म पर उत्सव इत्यादि मनाये जाते थे और देवी देवताओ की पूजा की जाती थी।[8]

---

1 इ आई, 11, पृ 53 54
2 अ चौ डा, पृ 139-40
3 उपमितिभवप्रपचकथा, पृ 36
4 मनुस्मृति (10 51-56) म आया है कि चाण्डालो को गाव के बाहर रहना चाहिए। उनकी सम्पत्ति कुत्ते व गदहे हैं तथा शवो के कपडे ही उनके परिधान हैं। उन्हे टूटे-फूटे बर्तनों मे भोजन करना चाहिए। उन्हें लगातार घूमते रहना चाहिए। वे रात्रि मे नगर या गाव के भीतर नही आ सकते। उन्हे बिना सम्बन्धियो वाले शवों को ढोना चाहिए। वे राजाज्ञा से जल्लाद का काम करत है। वे फासी पाने वाले व्यक्तियो के परिधान, गहने एव शैया ले सकते है। फाहियान(रिकार्ड्स ऑफ बुद्धिस्ट किंगडम्स, लैगे द्वारा अनूदित पृ 43) ने भी लिखा है कि जब वे नगर या बाजार मे प्रवेश करते तो लकडी के डण्डे से ध्वनि उत्पन्न करते चलते थे जिससे अन्यजन उनके स्पर्श से बच सकें।
5 ज्ञानपचमी, 1, 14, 72
6 उपमितिभवप्रपचकथा, पृ 698
7 श्रृगारमन्जरीकथा, पृ 85
8 तिलकमन्जरी, पृ 17-18

नारी शिक्षा

उच्च परिवारों म उत्पन्न कन्याओं की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाता था। उनकी शिक्षा म सगीत, गायन वादन, नृत्य और चित्रकला इत्यादि सम्मिलित थे। उनको धार्मिक व दार्शनिक विवादो म भाग लेने का अवसर भी प्राप्त होता था। परन्तु विरलतः। कवि राजशेखर की पत्नी चाहमान राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी विदुषी थी तथा उच्च कोटि की काव्य रचना करती थी।[1] चाहमान नरेश चन्दनराज की रानी रुद्राणी अथवा आत्मप्रभा एक योगिनी' के रूप म प्रसिद्ध थी।[2] राजशेखर ने अपने 'काव्यमीमासा' म शीलाभट्टारिका नामक एक विदुषी का उल्लेख किया है। उसके द्वारा रचित कुछ श्लोक भी सस्कृत साहित्य म उल्लिखित मिलत हैं। अब, उसके नाम से स्पष्ट है कि वह कोई 'भट्टारिका' अर्थात् रानी थी और 'शारङ्गधर पद्धति' मे उसे भोजराज से क्रीडा करते हुए चर्चित किया गया है। इसलिये हम एस एन जोधावत[3] का यह मत स्वीकार्य लगता है कि शीलाभट्टारिका मिहिर-भोज प्रतिहार की कोई रानी रही होगी। (वह भोज परमार की पत्नी नही हो सकती क्योंकि भोज परमार के बहुत पहले राजशेखर उसका उल्लेख करता है।) परन्तु सामान्य परिवारो म स्त्रिया अशिक्षित रहती थी। कुछ ऐसी स्त्रियो के उदाहरण उपलब्ध हैं जो दर्शन, धर्म तथा साहित्य मे रुचि रखती थी। योगेश्वरी नामक महिला उज्जैन के एक शैव आश्रम की प्रमुख थी।[4] परमार शासक उपेन्द्रराज के दरबार मे सीता नामक कवियित्री रहती थी, जिसने उस नरेश की प्रशसा म अनेक गीत लिखे थे।[5] परमार शासक उदयादित्य के झालरापाटन अभिलेख की लेखिका पण्डिता हर्पुका थी।[6]

विवाह के पूर्व कन्याए अपने माता-पिता के सरक्षण मे रहती थी।[7] परन्तु विवाहोपरान्त पति ही उनका स्वामी होता था। व्यवस्थाकारो ने सगोत्र और सपिण्ड विवाहो को वर्जित बताया है। वर परीक्षण मे जाति, गोत्र, पिण्ड, प्रवर, शिक्षा, आयु, गुण, धन जन्म स्थल इत्यादि प्रमुख

1 अ चौ डा, पृ 255
2 पृथ्वीराजविजय, 5, पृ 37-39
3 पी आर एच सी., 7, पृ 37-39
4 इ आई., 11 पृ 221-22
5 नवसाहसाकचरित, 11 वा, 76-78
6 जे ए एस बी, 10, पृ 242
7 भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, पृ 284

विचारणीय बिन्दु थे। विवाह मे माता-पिता वधू को सम्पत्ति आभूषण इत्यादि उपहार मे देते थे।[1]

ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जब राजपरिवारो के वैवाहिक सम्बन्ध राजाओं के पारस्परिक युद्धो के उपरान्त की गई सन्धियो का परिणाम होते थे।[2] यथा कुमारपाल चौलुक्य ने चाहमान राजा अर्णोराज को युद्ध मे परास्त कर उसकी 18 वर्षीय राजकन्या से विवाह किया था।[3] इनके अतिरिक्त पारस्परिक सहयोग तथा परम्परागत द्वेष समाप्त करने के उद्देश्य से भी वैवाहिक सम्बन्ध किए जाते थे। उदाहरणार्थ परमार शासक उदयादित्य की पुत्री श्यामलदेवी का विवाह मेवाड के गुहिल शासक विजयसिंह से इसी उद्देश्य से किया गया था।[4] चाहमान द्वितीय गूवक ने कान्यकुब्ज सम्राट् (सम्भवत प्रथम भोज) से अपनी बहिन कलावती का विवाह कर प्रतिहार-चाहमान सम्बन्धो को दृढ़ता एव आत्मीयता प्रदान की थी।[5] परमार शासक उदयादित्य ने चाहमान तृतीय विग्रहराज से राजमती अथवा राजदेवी नामक एक राजकुमारी का विवाह करके चाहमानो से मित्रता स्थापित की थी।[6]

मेधातिथि के अनुसार लडकी का विवाह आठ वर्ष की आयु मे होना चाहिए।[7] अभिलेखो मे विवाह योग्य वर्ष का विवरण उपलब्ध नही होता। सोमदेव ने पुत्री के विवाह की आयु 12 वर्ष बतायी है।[8] अर्णोराज की 18 वर्षीय पुत्री का विवाह कुमारपाल चौलुक्य से हुआ था।[9] 'तिलकमञ्जरी' से ज्ञात होता है कि कभी-कभी बालिकाओं के उत्पन्न होने से पूर्व ही उनके विवाह निश्चित कर दिये जाते थे।[10]

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो मे अन्तरजातीय अनुलोम विवाहों के कतिपय उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। बाउक के जोधपुर अभिलेख से ज्ञात

---

1. समराइच्चकहा, पृ. 93-101
2. समुद्रगुप्त ने 'दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहिशकमुरुण्डै' एव सिहल तथा अन्य द्वीपो के शासको की कन्याओं को प्राप्त किया था।
3. अ चौ. डा., पृ. 253
4. इ. आई., 2, पृ. 12
5. पृथ्वीराजविजय, 5, 30-32
6. इ. आई., 26, पृ. 80
7. मनुस्मृति, 11,4
8. भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, पृ 286 पर उद्धृत
9. द्वयाश्रयमहाकाव्य, 19 श्लोक 21-25
10. तिलकमञ्जरी, पृ. 52

होता है कि ब्राह्मण राजा हरिचन्द्र ने भद्रा नामक क्षत्रिया कन्या से विवाह किया था।[1] शक्तिकुमार के आटपुर अभिलेख मे अल्लट द्वारा हूण राजकुमारी हरियादेवी के साथ विवाह किए जाने का उल्लेख है।[2] नाडोल के शासक लक्ष्मण ने एक वैश्य कन्या से विवाह किया था।[3] इसी प्रकार ब्राह्मण मन्त्री कवि राजशेखर ने चाहमान कन्या अवन्ति सुन्दरी से विवाह किया था।[4]

'पृथ्वीराजरासो' के अनुसार जयचन्द्र गाहडवाल ने अपनी पुत्री सयोगिता के लिए उचित वर प्राप्त करने के हेतु स्वयवर आयोजित किया था।[5] नाडोल के राजा महेन्द्रपाल की बहिन दुलभादेवी ने स्वयवर मे दुर्लभराज चौलुक्य का वरण किया था।[6] परन्तु ऐसा आभास होता है कि यह प्रथा पूर्वगामी युग के समान अब भी अपवादरूपेण ही अपनाई जाती थी।

राजकीय अन्त पुरो मे रानियो का पर्याप्त महत्व और प्रभाव था। चाटसू प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गुहिल शासक बालादित्य ने अपनी रानी रट्टबा के निधनोपरान्त उसकी स्मृति मे मुरारी (विष्णु) मन्दिर बनवाया था।[7] इसी प्रकार चाहमान अजयराज ने अपनी रानी सोमलादेवी के नाम के सिक्के जारी किये थे।[8] पृथ्वीराजविजय' से ज्ञात होता है कि तृतीय पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की अल्पायु म मृत्यु हो जान पर कुछ समय के लिए पृथ्वीराज की माता कर्पूरदेवी ने सरक्षिका के रूप मे शासन किया था।[9]

अभिलेखो से ज्ञात होता है कि रानिया जनकल्याणकारी तथा धार्मिक कार्यों के लिए दान देने मे रूचि लेती थी। परमार शासक पूर्णपाल की विधवा बहिन लाहिनी ने सूर्य मंदिर का जीर्णोद्धार और वटपुर मे एक बावडी का निर्माण करवाया था।[10] धारावर्ष की रानियो—शृगारदेवी व गीगादेवी—ने एक बावडी बनवाकर शातिनाथ के मन्दिर को भेंट की थी।[11] चाहमान शासक

1 इ आई 18, पृ 95
2 आई ए 39, पृ 191
3 पुरातनप्रबन्धसग्रह पृ 102
4 अ चौ डा, पृ 256
5 त्रिपाठी, आर एस हिस्टरी ऑफ कनौज, पृ 325-26 पर उद्धृत
6 अ चौ डा पृ 288
7 इ आई 12 पृ 13-17
8 पृथ्वीराजविजय, 5, श्लोक 87-89
9 वही, 9 । 34
10 इ आई, 9 पृ 12-15
11 ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ 24

चन्दनराज की रानी रुद्राणी ने तीर्थराज पुष्कर मे 1000 दीपो के जलाए जाने की व्यवस्था की थी ।[1] वि स 1212 के भेडाघाट अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि गयकर्ण कलचुरि की रानी आल्हणदेवी ने एक शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया था । वि. स. 1221 के साण्डेराव अभिलेख[3] के अनुसार रानी आनलदेवी ने राजकीय भोग मे से एक 'हल' भगवान महावीर के निमित अनुदान दिया था । वि स 1225 के घोड अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि चाहमान द्वितीय पृथ्वीराज की रानी 'सुहवादेवी' ने एक शिव-मन्दिर के लिए प्रचुर दान दिया था । साण्डेराव से प्राप्त वि. स. 1236 के एक अन्य अभिलेख से सूचित है कि जाल्हणदेवी ने अपना निवास स्थान ही पार्श्वनाथ के मन्दिर को भेंट कर दिया था ।[5]

रानियो के अतिरिक्त उच्च परिवारो को महिलाए भी धार्मिक अनुष्ठानो और अनुदानों मे रुचि लेती थी । अपराजित-प्रशस्ति के अनुसार गुहिल अपराजित सेनापति वराहसिह की पत्नी यशोमती ने लक्ष्मी, यौवन और वित्त को क्षणिक मानकर ससाररूपी विषय समुद्र को तैर कर पार करने के लिए नाव रूपी कैटभरिपु (विष्णु) का मन्दिर बनवाया था ।[6] बुचकला का शिव-मन्दिर प्रतिहार शासक द्वितीय नागभट के सामन्त की पत्नी जयावली ने बनवाया था ।[7] किराडू के चाहमान महाराज पुत्र मदनब्रह्मदेव के सामन्त तेजपाल की भार्या ने तुरुष्को के द्वारा शिवालय को तोडे जाने पर उसकी पुनर्प्रतिष्ठा करवाई थी ।[8]

समाज और परिवार में 'माता' का अत्यधिक गौरवपूर्ण महत्व था ।[9] पूर्वगामी युग के समान लोग अपने माता-पिता के धार्मिक कल्याण एव पुण्यार्जन हेतु दान दिया करते थे । परमार शासक यशोवर्धन ने अपनी माता

1. पृथ्वीराजविजय, 5, 37-39
2. इ. आई., 2, पृ. 11-12
3. वही, 11, पृ. 46
4. वरदा, वर्ष 8, अङ्क 4, पृ. 1
5. नाहर, पू. प, जे. ले. स., 1, पृ 229
6. इ. आई, 4, पृ. 31-32
7. वही, 9, पृ. 198-200
8. वही, 42, पृ. 442
9. मनुस्मृति (2/145) मे लिखा है कि आचार्य उपाध्याय से और पिता आचार्य से दस गुना सम्मान्य होता है परन्तु पिता से भी माता हजार गुनी सम्माननीया होती है ।

सोमलादेवी की जयन्ती के अवसर पर भूमिदान किया था।[1] महाराज रायपाल के वि स 1200 के नाडलाई अभिलेख मे कहा गया है कि रथ यात्रा पर आए राउत राजदेव ने अपनी माता और धर्म के निमित्त एक विंशोपक तथा दो पल्लिका तेल प्रदान किया था।[2]

सती-प्रथा

स्मृतियो म विधवाओ के लिए दो मार्ग निदेशित किए गए हैं।[3] पति की स्मृति मे नियमानुसार पवित्र जीवन व्यतीत करना अथवा सती होना। पाचवी शती के तृतीय पाद म नेपाल नरेश मानदेव की मा राज्यमती अपने पति की मृत्यु हो जाने पर सती होने लगी थी।[4] भानुगुप्त के एरण-अभिलेख मे सती-प्रथा का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की पत्नी अपने पति के निधनोपरात सती हो गई थी।[5] बाण ने 'हर्षचरित' के हर्ष की माता महारानी यशोमतीदेवी व अन्य रानियो के सती होने का विवरण दिया है। हर्ष की बहिन राज्यश्री भी अपनी इच्छा से सती होने के लिए तत्पर बताई गई है।[6] हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो मे भी सती प्रथा के अनेक उदाहरण उपलब्ध है। वि स 947 के घटियाला के देवली अभिलेख से ज्ञात होता है कि राणुक की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी सपल्लदेवी सती हो गई थी।[7] वि स 1189 के बस्सी (नागोर) स्तम्भ अभिलेख से ज्ञात होता है कि चाहमान शासक अजयपाल की मृत्यु होने पर उसकी तीन रानिया सती हो गई थी।[8] जोधपुर से 11 कि मी दूरी पर स्थित पाल से लगभग 12 सती स्मारक अभिलेख प्राप्त हुए हैं।[9] जोधपुर के निकट मण्डोर से प्राप्त पचकुण्ड-अभिलेख से ज्ञात होता है कि राठौड भूवणि के पुत्र सलरवा की मृत्यु पर उसकी तीन रानिया सलखणदेवी चहुँवाणी, सावलदेवी

1 इ आई 19, पृ 351-52
2 वही, 11, पृ 42
3 विष्णस्मति 35/14 बृहस्पतिस्मृति 25/11
4 नोली नेपालीज इन्स्क्रिप्शन्स इन गुप्त केरेक्टस, 1 पृ 3
5 कार्पस 3 स 20
6 हर्षचरित, 8, पृ 248
7 इ आई, 19 पृ 8-9
8 वही, 37 पृ 163
9 जे पी ए एस बी, 12, पृ 106

सोलंकिणी और सजगदेवी गहलोतणी सती हुई थी।[1]

उपर्युक्त प्रमाणो से सकेतित है कि सती प्रथा मुख्य रूप से राजपूतो म प्रचलित थी। धमशास्त्रो का भी यह मत लगता है। आंगिरस के अनुसार ब्राह्मण-पत्नी का सती होना आत्मघात के समान है। इससे न तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और न उसके पति को।[2] परन्तु हमारे अध्ययनकाल मे राजपूतो के अतिरिक्त वैश्यो मे भी सती प्रथा का प्रचलन था। जोधपुर से लगभग 11 कि मी की दूरी पर स्थित पाल से प्राप्त वि स 1244 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि धकट (वैश्य) जातीय और पोचस गोत्रीय समधर के पुत्र की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी सती हो गई थी।[3]

परन्तु विशेष परिस्थितियो मे सती न होने के भी उदाहरण मिलते हैं। हर्ष ने अपनी विधवा बहिन राज्यश्री को समझा बुझा कर सती होने से रोक दिया था। रानी कलचुदेवी के वि स 1239 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि पृथ्वीदेव की मृत्यु पर इस रानी ने सती होने का निश्चय कर लिया था, परन्तु पुत्र सचिवो और विद्वानों के समझाने बुझाने पर उसने अन्तत अपना निर्णय बदल दिया।[4] चाहमान शासक सोमेश्वर की मृत्यु के उपरान्त तृतीय पृथ्वीराज की माता कर्पूरदेवी अपने पुत्रो के हितार्थ जीवित रही।[5] चतुर्थ विग्रहराज की रानी भी किसी कारणवश सती नही हुई थी।[6]

सती न होने वाली विधवाए पारिवारिक सरक्षण मे रहती थी। परमार शासक पूर्णपाल के वसन्तगढ अभिलेख से ज्ञात है कि पूर्णपाल की विधवा

---

1 एडमिनि, वि स 1932, पृ 71, अन्वेषणा, 1, पृ 45 सती प्रथा पर द्र
 (i) धोलपुर अभिलेख वि स 898, जड डी एम जी, 40, पृ 39
 (ii) उत्त्रा अभिलेख वि स 1237 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1911-12 पृ 53
 (iii) वि स 1243 का पुष्कर अभिलेख, ए आर आर एम अजमेर, 1919-20 पृ 3
 (iv) वि स 1248 का उत्त्रा अभिलेख, ओझा, गो ही जोधपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ 30
2 रा अ ए पृ 457 पर उद्धृत
3 जे पी ए एस बी, 12, पृ 106
4 सोमानी, रामवल्लभ पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाईम्स, पृ 178
5 शर्मा, चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ 56
6 वही।

बहिन लाहिनी अपने भाई के संरक्षण मे रह रही थी।[1] वे विधवा रानिया, जो राजनीतिक कारणो से सती नही होती थी, सत्ता का उपयोग करती हुई भी पाई जाती हैं। यथा तृतीय पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की अल्पायु मे मृत्यु होने पर कुछ समय के लिये उसकी माता कर्पूरदेवी ने संरक्षिका के रूप मे शासन किया था।[2]

बहुपत्नीत्व

बहुपत्नी प्रथा प्राचीनकाल से ही राजपरिवारो, धनी वैश्यो तथा उच्च वर्णों मे विशेषत प्रचलित थी। हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो से यह ज्ञात होता है कि राजपरिवारो मे बहुपत्नीत्व का प्रचलन था। सामन्त और धनाढ्य भी इस विषय मे राजपरिवारो का अनुकरण करते थे। प्रतिहार बाउक के जोधपुर-अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि उसके वश के आदिपुरुष हरिचन्द्र की ब्राह्मणी और क्षत्रियजातीया दो पत्निया थी। सती स्मारक अभिलेखो से इस स्थिति पर प्रकाश पडता है। मण्डोर के पचकुण्ड अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि राठौड सुवर्ण के पुत्र सलखा के तीन पत्निया-सलखणदेवी चहुँवाणी, सावलदेवी सोलकिणी व सेजणदेवी गहलोतणी थी। प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल ने एक साथ दो स्त्रियो से विवाह किया था।[5] बाडले से प्राप्त वि स 1234 के अभिलेख के अनुसार शहड की तीन पत्निया थी।[6] बसी से प्राप्त वि स 1189 के स्तम्भ अभिलेख मे चाहमान अजयपाल की तीन रानिया-पट्टमहादेवी सोमल (देवी), सहत्तलदे (वी) और श्रीदेवी का नामोल्लेख हुआ हैं।[7] इसी प्रकार उस्त्रा से प्राप्त एक अभिलेख[8] से ज्ञात होता है कि गुहिल राणा तिहुणपाल के तीन रानिया थी। 'पृथ्वीराजविजय' के टीकाकार जोनराज ने अर्णोराज की दो रानियो का नामोल्लेख किया हैं। उनमे ज्येष्ठा सुधवा थी जो मरु भाग (मारवाड) को राजकुमारी थी और दूसरी गुर्जरराज जयसिंह की पुत्री काचनदेवी थी।[9] परमार राजवश

1 इ आई, 9, पृ 12-15
2 पृथ्वीराजविजय, 9, 1 34
3 इ आई, 18, पृ 95
4 अन्वेषणा, 1, पृ 45
5 इ आई, 14, पृ 176
6 मरु भारती, 2, पृ 2
7 इ आई, 37, पृ 163
8 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1911-12, पृ 53
9 पृथ्वीराजविजय, 5, 29

की आबू शाखा के शासक धारावर्ष के दो रानिया थी—गीगादेवी और शृंगारदेवी।[1] तृतीय पृथ्वीराज की भी अनेक रानिया थी।[2]

गणिकाएं और देवदासियां

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो मे गणिकाओ और देवदासियो का उल्लेख मिलता है। प्राचीनकाल मे साधारणतया उच्चकोटि की गणिकाए शिक्षिता तथा कला और कामशास्त्र मे निष्णात होती थी।[3] बसन्तगढ-अभिलेख[4] मे इनका उल्लेख आया है। इस अभिलेख मे 'वटपुर' नगर पुराण पाठी ब्राह्मणो, गणिकाओ और सैनिको से सुशोभित बनाया गया है। महाराज जोजलदेव के सादडी और नाडोल अभिलेखो मे देव यात्रा से सम्बन्धित आदेश मे कहा गया है कि किसी देवता विशेष की यात्रा के दिन अन्य देवताओ की प्रमदाओ (गणिकाओ) को भी सुन्दर वस्त्रो एव अलङ्कारो से सुसज्जिता होकर उपस्थित होना होगा।[5] वि. स. 1200 के नाणा मे प्राप्त ताम्रपत्र मे विलासिनी और मेहरी नामक देवदासियो का उल्लेख हुआ है।[6] वि. सं. 1306, 1334, 1345 के भीनमाल से प्राप्त अभिलेखो मे जगत्स्वामी के सूर्य-मन्दिर के 'प्रमदाकुल' के लिए सज्जा सम्बन्धी प्रबन्ध की सूचना मिलती है।[7] यद्यपि कुमारपाल चौलुक्य ने अनेक सामाजिक कुरीतियों को समाप्त किया था, तथापि देवदासी प्रथा को महत्वहीन समझते हुए उसने घोषित किया था कि इससे न कोई हानि है और न लाभ। अतः यह सस्था विद्यमान रहे या समाप्त कर दी जाय इससे कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है।[8] हर्षनाथ अभिलेख[9] से ज्ञात होता है कि सामन्त अपने स्वामियो को सुन्दर गणिकाए भेंट कर उन्हे प्रसन्न करते थे। गणिकाओ को समाज का अभिन्न अंग माना जाता था और धनी वर्ग तथा राजसभाओ मे इनको सम्मान प्राप्त था।[10]

1. भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, पृ. 178
2. अ. चौ. डा, पृ 259
3. सोशल लाइफ इन इन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 199
4. इ. आई, 9, पृ. 12-15
5. वही, 9, पृ. 62 व 158
6. वही, 33, पृ. 240
7. बो. जी., 2, पृ. 469
8. महाराजपराजय, पृ. 83
9. इ. आई, 2, पृ. 121-22
10. नाट्यशास्त्र (अ. 17.37) में इन्हे विशेष शिक्षिता तथा सभ्य समझ कर नाटको मे इनके द्वारा संस्कृत भाषा प्रयुक्त किये जाने की अनुमति प्रदान की गई है।

ऐसे उदाहरण उपलब्ध है जिनसे प्रमाणित होता है कि उन्हें समाज और परिवारो से पृथक रखा जाता था। जिस गन्धर्वशाला मे गणिका कन्याओ को शिक्षा दी जाती थी वहा सभ्य परिवार की कन्याए नही पढती थी।[1]

व्रत

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो मे एकादशी, श्रावण की महाचतुर्दशी, *शिवरात्रि इत्यादि व्रतो का उल्लेख हुआ है।[2] अलबरूनी ने भी हिन्दू समाज* मे प्रचलित निम्नलिखित व्रतो का उल्लेख किया हैं — (1) देवशयनी एकादशी व्रत, (2) आषाढ शुक्लपक्ष की अष्टमी का व्रत, (3) देवउठनी एकादशी व्रत, (4) पौष की षष्ठी को सूर्य का व्रत, (5) मार्ग शीर्ष मे तीजको गौरी तृतीया का उत्सव।[3] 'कर्पूरमन्जरी' मे 'गौरी तृतीया' व्रत का वर्णन किया गया है।[4]

उत्सव

विचाराधीनकाल मे त्यौहार तथा उत्सव अत्यन्त उत्साह के साथ आयोजित किये जाते थे। भीनमाल के जगत्स्वामी के सूर्य मंदिर से प्राप्त अनेक अभिलेखो से इस विषय पर प्रकाश मिलता है। भीनमाल मे आश्विन माह मे आयोजित एक उत्सव मे देवताओ की आराधनार्थ स्थायी व्यवस्था हेतु विभिन्न जातियो के लोगो द्वारा भेंट प्रदान की जाती थी।[5] महाराज जोजलदेव के सादडी तथा नाडोल अभिलेखो मे लक्ष्मणस्वामिदेव की यात्रा के उत्सव का उल्लेख हुआ है।[6] जालौर के समरसिंह के अभिलेख[7] से ज्ञात होता है कि दीपोत्सव के दिन पूर्णदेवसूरि के शिष्य रामचन्द्राचार्य ने नवनिर्मित मण्डप मे स्वर्णकलशारोपण किया। सूण्डामाता अभिलेख[8] मे 'अक्षय तृतीया' के त्यौहार का विवरण दिया गया है। जैन धर्मानुयायी भी विविध विशिष्ट अवसरो पर उत्सवो का आयोजन करते थे। यथा किसी की दीक्षा के समय, धर्म मे उच्च स्थान प्राप्त करने पर, आचार्य पद ग्रहण करते समय, रथ यात्रा के समय,

1. कामसूत्र, पृ 364
2. इ. आई., 11, पृ. 30 और 65 तथा द्र कान्हडदेप्रबन्ध, 1, पृ 159
3. अलबरूनी का भारत, 2. पृ 175-184
4. रा अ. ए., पृ. 469 पर उद्धृत
5. इ. आई., 12, पृ. 27
6. वही, 9, पृ. 62 व 158
7. वही, 11, पृ. 55
8. वही, 9, पृ. 74

इत्यादि। ऐसे अवसरो पर नगरो एव गावो मे उत्सव मनाये जाते थे। 'खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली' जैसे ग्रथो तथा अनेक अभिलेखो से ज्ञात होता है कि ध्वजारोपण तथा प्रतिष्ठा के समय भी उत्सव मनाये जाते थ। महाराजाधिराज रायपाल के नाडलाई-अभिलेख मे रथ यात्रा उत्सव का उल्लेख है।[1] केल्हणदेव के लालराई अभिलेख[2] मे शान्तिनाथदेव की यात्रा-उत्सव का उल्लेख हुआ है। केल्हणदेव के साण्डराव-अभिलेख[3] मे कहा गया है कि केल्हणदेव की माता ने राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति मे से श्रीषण्डेरकीय मूलनायक श्रीमहावीरदेव के चैत्रवदि 13 को होने वाले कल्याणिक उत्सव के निमित्त एक युगधर्या हाएल प्रदान की। आबू के लुनावासी मदिर की प्रतिष्ठापना के समय से वहा वार्षिक उत्सव आयोजित किये जाते थे।[4] यह उत्सव चैत्र के कृष्ण पक्ष की तृतीया का प्रारम्भ होता था और आठ दिनो तक चलता रहता था। उत्सव के मध्य स्नात्र पूजा समारोह सम्पन्न किये जाते थे।

अलबरूनी ने बसन्तोत्सव का वणन किया है।[5] पुत्र जन्मोत्सव भी मनाये जाते थे।[6] इनके अतिरिक्त राजाओ द्वारा नये प्रदेशो की विजय के उपलक्ष म उत्सवो का आयोजन किया जाता था। कई अभिलेखो से ज्ञात होता है कि भोज परमार ने कोकणविजयपव और कोकणग्रहण विजयपर्व मनाये थे।[7]

हमारे अध्ययनकाल म मेलो का आयोजन भी किया जाता था जिनमे विभिन्न नगरो और गावों के लोग उत्साह स भाग लेते थे। अश्वव के बाली पाषण अभिलेख से ज्ञात हाता है कि बाली म अश्वमेले का आयोजन किया गया था।[8]

तीर्थस्थल

प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज म तीर्थ यात्रा का महत्व था।[9]

---

1 वही, 11, पृ 41
2 वही, 11, पृ 50
3 वही, पृ 47
4 वही, 8 पृ 204
5 सचाउ, 2, पृ 178-79
6 जन्मोत्सव का वणन तिलकमञ्जरी (पृ 63-64) मे बडे सुन्दर ढग से किया गया है।
7 इ आई, 18, पृ 320-25 तथा इ आई, 11, पृ 181
8 वही, 11, पृ 33
9 मौर्य शासक अशोक ने अपने अभिलेखा म उन्हें 'धर्मयात्राए' कहा है। शिलाअभिलेख आठ (इ आई, 2 पृ 456) से ज्ञात होता है कि उसने बोधगया की यात्रा की थी तथा रुम्मनदेई स्तम्भअभिलेख (इ आई ,2 पृ 1) से पता चलता है कि उसने लुम्बिनी की यात्रा की थी। इस यात्रा के दौरान उसने लुम्बिनी निवासियो के लिए भाग (भूमि कर) को घटा कर उपज का आठवा भाग कर दिया था।

प्राचीनतर युग मे नाहपान के जमाता ऋषभदत्त ने पुष्कर की तीर्थ यात्रा के अवसर पर तीन सहस्र गाए और एक गाव का दान दिया था।[1] हमारे अध्ययनकाल मे ब्राह्मण धर्मानुयायियो के पुष्कर, बिजोलिया, भिनाल, रिवासा घोटार्सी और हृषनाथ इत्यादि प्रमुख तीर्थ स्थल थे। वि स 1030 के हर्ष अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि चाहमान नरेश सिंहराज ने पुष्कर मे स्नान करके चार गाव दान दिये थे। भिनाल शैव धर्मावलम्बियो का प्रमुख केन्द्र था और महानाल नामक मदिर के लिए प्रसिद्ध था। वि स 1226 के बिजोलिया अभिलेख[3] म भी इसका उल्लेख एक तीर्थस्थल क रूप मे हुआ है। रिवासा वहा पर स्थित जिणमाता नामक मदिर के कारण विख्यात था, घोटार्सी इन्द्रराजादित्यदेव वटयक्षणीदेवी तथा सकरायमाता मन्दिर के कारण तीर्थ स्थल माने जाते थे। हृषनाथ शैव धर्म के लकुलीश सम्प्रदाय के अनुगामियो का तीर्थ स्थल था। बिजोलिया भी शैवो का एक प्रमुख केन्द्र था। यहा लोग विभिन्न स्थानो से महाकाल के मन्दिर के दर्शन करने तथा मन्दाकिनी कुण्ड मे स्नान करने के लिये आते थे। यह तीर्थ स्थल प्रमुखतया माथुर एव नैगम कायस्थो से सम्बन्धित था। अभिलेखो मे यहा आने वाले तीर्थयात्रियो म माथुर कायस्थो का विशेष उल्लेख हुआ है।[4] इनके अतिरिक्त सौराष्ट्र के सोमनाथ को भी राजस्थान मे बडा महत्व दिया जाता था। चाहमान शासक प्रथम पृथ्वीराज ने सोमनाथ के तीर्थयात्रियो को भोजन की सुविधा के लिये मार्ग म अ नसत्र स्थापित किये थे।[5] 'ललितविग्रहराज नाटक[6] सामनाथ का उल्लेख एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल के रूप मे करता है।

'विविधतीर्थकल्प' के अनुसार अचलेश्वर अर्बुदाचल, कुण्डगेश्वर, अभिनन्दादेवी और उज्जयिनी इत्यादि जैन तीर्थ स्थल थे।[7] अभिलेखो के उल्लेखानुसार ओसिया, नाणा नरभट्ट इत्यादि भी जैन धर्म से सम्बन्धित प्रमुख तीर्थ स्थल थे। यहा पर जैन मदिर एव जैन गच्छ थे। यहा राजस्थान के विभिन भागो से भारी सख्या मे लोग आते थे। 'खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि' से ज्ञात होता है कि 1086 ई से सपादलक्ष का एक जैन सघ जिनपति सूरि की

1 इ आई, 8, पृ 79
2 वही, 2, पृ 118-19
3 वही, 26, पृ 90-100
4 पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1905-06, स 2145 व 2150
5 चाहमान प्रशस्ति, पक्ति 7, पृथ्वीराजविजय, श्लोक 120
6 आई ए, 20, पृ 210
7 विविधतीर्थकल्प, पृ 11, 15, 57, 79, 81 और 88

अध्यक्षता में शत्रुञ्जयादि तीर्थों की यात्रा के लिये अजमेर से आशापल्ली (असावल) पहुंचा था।[1]

आमोद-प्रमोद-मनोरंजन

यद्यपि अभिलेखों में मनोविनोद और मनोरजन सम्बन्धी चर्चा बहुत कम हुई है तथापि न्यूनाधिक उल्लेखों द्वारा लोगों के मनोविनोद विषयक विवरण उपलब्ध होते हैं। प्राचीन नरेश विहार यात्राएं किया करते थे।[2] गुप्त शासकों की मुद्राओं पर उन्हें चीते, शेर, हाथी, गैंडे इत्यादि पशुओं का आखेट करते हुए प्रदर्शित किया गया है।[3] इनके अतिरिक्त मेले, उत्सव इत्यादि मनोविनोद के साधन थे। हमारे अध्ययनकाल में गायन, वादन, नृत्य नाट्य आदि प्रचलित मनोरजन थे। नाटकों का आयोजन नाट्यशालाओं में किया जाता था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तथा जैन मन्दिरों में नाटक अभिनय की व्यवस्था होती थी। चौलुक्य-नरेश कुमारपाल द्वारा वि. स. 1221 मे निर्मित जाबालिपुर के कुवरविहार जैन मन्दिर मे वि. स. 1268 मे दीपोत्सव सम्पन्न हुआ था। इस अवसर पर स्वर्णकलश स्थापना और पूर्णदेवसूरि के शिष्य रामचन्द्राचार्य द्वारा पार्श्वनाथ मन्दिर में नाटक के अभिनय का आयोजन भी किया था।[4] सारणेश्वर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि मन्दिर के निर्वाह के लिए जुआरी से एक पेटक (एक दाव की जीत का भाग) लिये जाने की व्यवस्था की गई थी।[5]

खान पान

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों मे खाद्य पदार्थों के नामों का प्रायः अभाव सा है। अभिलेखों मे आटा, चावल को घी मे पकाये जाने का उल्लेख है।[6] नैवेद्य तैयार करने के लिए दो सेर आटे मे आठ कलश घी की आव-

---

1. शर्मा, पृथ्वीराज तृतीय और उनका काल, पृ. 24
   दिगम्बर जैनो के दो प्रकार के तीर्थस्थल थे। एक सीद्क क्षेत्र, जहां जैनतीर्थंकरों और मुनियो ने निर्वाण प्राप्त किया था दूसरे, अतिसयक क्षेत्र जो अपनी मूर्तियो के वैशिष्ट्य के कारण तीर्थ स्थल हो गये थे। (जे. एस. आई., पृ. 422)।
2. इ. आई, 2, पृ. 456
3. अल्तेकर, द क्वायनेज ऑफ गुप्त एम्पायर, पृ. 69, 105, 185, 190, 282
4. इ. आई. 11, पृ. 55
5. बी. आई., 2, पृ. 67-68
6. इ. आई., 11, पृ. 57

श्यकता पडती थी।[1] द्वितीय भीमदेव के आबू अभिलेख[2] मे हीग, जायफल, जावित्री, मेथी, आवला, हरड, खाण्ड, गुड, कालीमिर्च, बहेडा, महुआ, नारियल और दाला के प्रयोग का वणन मिलता है। रायपाल के नाडलाई पाषाण अभिलेख मे किराडउआ (किराना) शब्द का उल्लेख हुआ है।[3] हस्तिकुण्डी अभिलेख[4] मे गेहूँ जौ, नमक एव केसर के भार पर कर लगाने का वर्णन है। अथूर्णा अभिलेख[5] मे गुड, मजिष्ट, नारियल, सुपारी, तेल, जव इत्यादि के व्यापार की मण्डियो का विवरण प्राप्त होता है। ओसिया के सच्चिका माता मन्दिर की प्रशस्ति[6] मे भोजक को पारिश्रमिक रूप मे कोष्ठागार से प्रति दिन दो अजली मू ग देने की व्यवस्था का उल्लेख है।

शाकाहारी जन दूध और दूध-निर्मित वस्तुओ का प्रयोग करते थे, मास का नही। सारणेश्वर प्रशस्ति[7] से ज्ञात होता है कि सारणश्वर मे हलवाइयो की दुकानें थीं जिनसे मन्दिर को एक घडिया दूध देने को कहा गया था। परन्तु इस युग के अनेक जन मासाहारी भी थे। आल्हणदेव के किराडू अभिलेख[8] से ज्ञात होता है कि आल्हण ने पुण्य व यश की वृद्धि हेतु शिवरात्रि पर पशुवध-निषेध की आज्ञा प्रसारित की थी। इस आज्ञानुसार माह के दोनो पक्षो की अष्टमी, एकादशी व चतुर्दशी को पशुवध वर्जित कर दिया गया था। इस आज्ञा उल्लघन को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। पुरोहितो को भी इस आज्ञा क पालन का आदेश दिया गया। इससे सकेतित है कि अनेक सामान्य जन एव पुरोहित मासाहारी थे। यद्यपि जैन धर्म के प्रभाव से सामिष भोजन की प्रथा धीरे-धीरे कम होती जा रही थी तथापि इसकी लोकप्रियता एक दम समाप्त नही हो गई थी। अलबरूनी ने सूचित किया है कि ब्राह्मण को गैंडे का मास खाने का विशेष अधिकार था।[9] 'समराइच्चकहा' मे चण्डिका की पूजा मे भैंसे की बलि देकर उसका मास प्रसादरूपेण ब्राह्मणो द्वारा खाये जाने का वर्णन है।[10]

---

1 वही, 20, पृ 57
2 एच आई जी, 2, स 170
3 इ आई, 11, पृ 43
4 बी आई, 3, पृ 68-69, इ आई, 10, पृ 17-20
5 इ आई, 14, पृ 207
6 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 198
7 बी आई, 2, पृ 67-68
8 इ आई, 11, पृ 44
9 अलबरूनी का भारत, पृ 153
10 रा अ ए, पृ 467 पर उद्धृत

ताम्बूल खाने का भी प्रचलन था। लोगो के दात चूने और सुपारी आदि के साथ पान चबाने के कारण लाल रहते थे।[1] हस्तिकुण्डी अभिलेख[2] मे मन्दिर के निर्वाह के लिये ताम्बूल विक्रेताओ से एक 'कर्ष' वसूल किये जाने का उल्लेख है। 'तिलकमन्जरी' से ज्ञात होता है कि स्त्रिया और पुरुष पान मे कपूर मिलाकर खाते थे।[3]

बाउक की जोधपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आठवी शताब्दी मे क्षत्रिय सुरापान करते थे। घटियाला अभिलेख[4] के अनुसार गुर्जर प्रतिहार शासक हरिचन्द्र की क्षत्रिय वशीया रानी की सतति मधुपायी (मद्यपान करने वाले) अर्थात् क्षत्रिय कहलाये। अलबरूनी ने भी लिखा है कि क्षत्रिय वर्ग के लोग मद्यपान करते थ।

---

1. अलबरूनी का भारत, पृ 138
2 बी., आई , 3, पृ. 68-69
3 इ आई , 18, पृ 95
4 जे आर ए एस , 1895, पृ 516

आर्थिक अवस्था

अरावली पर्वतमाला से विभाजित राजस्थान दो मुख्य खण्डों में विभाजित प्रतीत होता है-पूर्वी और पश्चिमी । जलवायु की दृष्टि से पूर्वी भाग पर्याप्त वर्षा होने के कारण हरीतिमा आच्छादित और कृषि योग्य है । यह भू-भाग जगलो, वनस्पतियो तथा प्राकृतिक सम्पदा से सम्पन्न है । इसीलिए यह कृषि तथा वाणिज्य दोनो दृष्टि से साधन युक्त और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है । पश्चिमी भाग के अन्तर्गत जो पजाब से गुजरात तक फैला हुआ है पूर्वकालिक जोधपुर, जैसलमेर और बीकानेर राज्यो के अधिकाश क्षेत्र सम्मिलित है । वर्षा के अभाव से यह प्राय रेतीला और सूखा रहता है । इसका बहुत बडा भाग थार रेगिस्तान के नाम से जाना जाता है । यहां की जनसख्या कम है, पानी की सुविधा के अनुसार बस्तियें बसी हुई हैं और यह आर्थिक रूप से पिछडा तथा अविकसित है । प्राचीनकाल मे भी यहां लगभग यही स्थिति थी।

हमारे अध्ययनकाल के आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालने वाले अभिलेखो से, जो प्राय दान शासन हैं, राजस्थान के कृषि वाणिज्य इत्यादि की रूपरेखा स्थिर करने मे सहायता मिलती है । दान शासनो से यह प्रतीत होता है कि इस प्रदेश का मुख्य आर्थिक आधार कृषि कर्म तथा तत्सम्बन्धी उद्योग थे । इसलिये हम सर्वप्रथम कृषि कर्म और भूमि व्यवस्था आदि पर विचार करेंगे ।

भू-स्वामित्व

प्राचीन एव पूर्वमध्यकालीन भारत म भू-स्वामित्व का क्या रूप था इसके विषय मे आर्थिक इतिहासकारो मे मतभेद है । ब्युलर, हाप्किन्स, मैकडोनल, कीथ और स्मिथ जैसे इतिहासवेत्ताओ ने स्मृतियो व धर्मशास्त्रो के आधार पर मत प्रकट किया है कि प्राचीन भारत मे कृषि भूमि राजा की सम्पत्ति मानी जाती थी ।[1] इनके विपरीत पी एन बनर्जी और काशीप्रसाद जायसवाल[2] ने भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । यू एन घोषाल ने जायसवाल के विचारो से असहमति प्रकट की है ।[3] अल्तेकर,

---

1 सन्दर्भो के लिये द्र शर्मा, रामशरण भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973, पृ 139

2 बनर्जी, पी एन , पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ 179, जायसवाल, का प्र , हिन्दू पॉलिटी, (द्वितीय सस्करण) पृ 343-51

3 द बिगिनिंग ऑफ इण्डियन हिस्टोरियोग्रफी एण्ड अदर ऐसेज, निबन्ध 6, पृ 158-66

एस. आर शर्मा, आर सी पी सिंह, एस के मैती, एल गोपाल प्रभृति विद्वानो ने भी इस विषय पर प्रकाश डाला है।[1]

प्रारम्भिक वैदिक युग मे आर्य जाति जनो मे विभाजित थी। उसका 'मध्यदेश' की ओर शनै शनै प्रसार हुआ। साधारणतया इस युग मे सामूहिक 'भू-स्वामित्व' की प्रथा रही होगी। जैमिनी[2] के 'मीमासा सूत्र' के अनुसार भूमि पर सबका अधिकार होता है। इस वचन का अभिप्राय सार्वजनिक अधिकार से लगाया जा सकता है। इसकी व्याख्या करते हुए शबर स्वामी[3] (चौथी शताब्दी ई) ने मत व्यक्त किया है कि भूमि पर दूसरो का भी उतना ही अधिकार होता है जितना राजा का। 'बृहस्पति-स्मृति' के अनुसार राजा से अपेक्षित है कि वह भूमिदान करते समय चारों वेदो के ज्ञाताओ, व्यापारियो, महत्तरो, समस्त ग्रामवासियों, राज्याधिकारियो इत्यादि को सूचित करे।[4] राजस्थान के अभिलेखो मे उक्त तथ्य के प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ अमृतपालदेव के एक ताम्रपत्र (वि स 1242) में पुरोहित पाल्हा, ज्योतिषी यशदेव, पचकुल महिंदिग, सेठ साहूकारो, ग्राम निवासियो, अमात्या इत्यादि को भूमि दान की सूचना का उल्लेख हुआ है।[5] बासवाडा से प्राप्त भोजदेव के दानपत्र (वि स 1076) मे भी राजकीय अधिकारियो, ब्राह्मणो तथा ग्रामनिवासियो को सूचित किया गया है कि वटपद्रक ग्राम की 100 निवर्तन भूमि भाइल ब्राह्मण को दानस्वरूप प्रदान की गई है।[6] इससे कम से कम यह निष्कर्ष तो अवश्य निकाला जा सकता है कि राज्य ग्राम भूमि मे सभी के हित को निहित मानता था।

राजस्थान मे प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध दान-शासनो का सम्बन्ध मन्दिरों और ब्राह्मणो को प्रदान की गई भूमि से है। ब्राह्मण और मन्दिर भूमि का

1 अल्तेकर, ए एस, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 198-203, सिंह, आर सी पी, किंगशिप इन नार्दर्न इण्डिया, पृ 339-40, मैती, एस के, इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया इन गुप्त पीरियड, पृ 11-23, गोपाल लल्लनजी, द इकनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ 1-31

2 6/7/3

3 मीमासा दर्शन 6/7/3

4 रामशरण शर्मा द्वारा उद्धृत, पृ 143

5 ओझा निबन्ध सग्रह, 2, पृ 196

6 इ आई, 11, पृ 181

उपभोग समुदाय के नाम पर करते थे। मन्दिरों में चढ़ाया हुआ प्रसाद सभी भक्तजनों में वितरित किया जाता था। ग्वालियर से प्राप्त सातवीं शताब्दी के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उक्त नगर ने एक मन्दिर को ऐसी भूमि दान में दी थी जिस पर सभी नगरवासियों का अधिकार था।[1] इसी प्रकार का संकेत सियोडनी अभिलेख से भी मिलता है।[2] गोचर भूमि तथा जलाशयों पर सामुदायिक अधिकारों का स्पष्ट संकेत प्राचीन धर्मशास्त्रों में मिलता है।[3]

ऐतिहासिक काल में, जब से सामाजिक जीवन में वैयक्तिक भावना को प्रधानता दी जाने लगी तब से ही, राजा के भूमि-स्वामित्व के सिद्धान्त के साथ व्यक्तिगत स्वामित्व का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया जाने लगा। 'पूर्व मीमांसा' से ज्ञात होता है कि राजा यज्ञ के पश्चात् भूमि के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का दान कर सकता था।[4] इस प्रकार व्यवस्थाकारों में भूमि पर 'राजा के सार्वभौम अधिकार को परिसीमित करने की अवधारणा लोकप्रिय हो रही थी। परवर्ती व्यवस्थाकारों ने वैयक्तिक सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। ध्यातव्य है कि इसके साथ ही परम्परा और लोक मत की प्रतिष्ठा भी बनी रही और राज्य (राजा) के भूमि-स्वामित्व सिद्धान्त का भी परित्याग नहीं कर दिया गया। कौटिल्य ने राजकीय भूमि और प्रजा जनों की व्यक्तिगत भूमि में स्पष्टतः अन्तर किया है।[5] नारद की व्यवस्थानुसार राजा को व्यक्तियों के गृह एवं खेत के ऊपर स्वामित्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये अन्यथा समाज में अव्यवस्था फैल सकती है।[6] किन्तु मेधातिथि[7] प्रभृति राजा को ही भूमि का स्वामी मानते हैं। परन्तु इससे उनका आशय राजा की भूमि पर सामान्य प्रभुसत्ता से है *भू-स्वामित्व से नहीं। साधारणतया खेत उस कृषि* कर्मी कृषक की सम्पत्ति माना जाता था जो उसमें उत्पादन करता था। राजा सम्पूर्ण राज्य का रक्षक है और इसीलिए वह सम्पूर्ण राज्यान्तर्गत भूमि की रक्षा करता है। इस दायित्व के बदले में उसे कर लगाने का अधिकार माना

---

1 वही, 1, पृ 154
2 वही, 1 पृ 162-179 यद्यपि ये अभिलेख राजस्थान की सीमा के बाहर है फिर भी उस समय की प्रवृत्ति के द्योतक माने जा सकते हैं।
3 धमकाश, 1, पृ 1204, 1206 और 1209
4 पूर्वमीमांसा, 6/7/3
5 अर्थशास्त्र 2/23
6 नारदस्मृति, 9/42
7 मनुस्मृति, 8/39 पर मेधातिथि की टीका।

गया है। परन्तु इस अधिकार से राजा का कृषि भूमि पर स्वामित्व सिद्ध नहीं होता। राजा किसी किसान की भूमि केवल कर न देने की स्थिति मे ही छीन सकता था। प्रजा को अपनी भूमि बेचने, दान देने तथा बन्धक के रूप मे रखने का अधिकार था। बौद्ध ग्रथो मे आम्रपाली और अनाथपिण्डक द्वारा बौद्ध सघ को भूमि दान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[1] हमारे अध्ययनकाल के वि स 1221 के साण्डेराव से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुछ रथकारो ने एक 'हल' भूमि दान दी थी।[2] रोपी से प्राप्त वि स 1059 के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि चन्द्रग्रहण के अवसर पर महाराजाधिराज देवराज ने आऊरकाचार्य को एक क्षेत्र दान मे दिया था। इस क्षेत्र की सीमाओ पर वामन, पूर्णचन्द्र, श्रीधर आदि व्यक्तियो के खेत स्थित थे। इसमे यह स्पष्ट होता है कि उनका भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था।[3] लेख मे भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को 'सत्क' (स्वत्व) कहा है।[4] दुर्लभराज चौलुक्य के शासनकाल के वि स 1069 के जोधपुर ताम्रपत्र की सूचनानुसार तन्त्रपाल क्षेमराज ने भीनमाल मण्डल मे स्थित क्षत्रियपद्र ग्राम ब्राह्मण नाणक को दान मे दिया था। यह क्षेत्र क्षेमराज की 'स्वभूमि' के अन्तर्गत था। इससे सकेतित है कि क्षेमराज का उक्त ग्राम और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था।[5] वि स 982 और 994 के पुष्कर अभिलेखो के अनुसार भट्ट के पुत्र मल्हण ने एक खेत (खात क्षेत्र) खरीद कर विष्णु मन्दिर के निमित्त दान दिया था। इस दान की पुष्टि राजा दुर्गराज द्वारा की गयी थी।[6] कुछ इसी प्रकार का विवरण वि स 1013 के सिहराज के थावला अभिलेख मे भी प्राप्त होता है।[7] इस अभिलेख मे राजा दुर्गराज और अन्य 10 व्यक्तियो ने मन्दिर के निमित्त भूमि दान स्वरूप दी थी जिसकी सम्पुष्टि भी दुर्गराज द्वारा की गई थी।

विचाराधीनकाल मे ऐसे अनेक अभिलेख उपलब्ध है जिनमे राजा द्वारा ब्राह्मण अथवा देवालयो को सम्पूर्ण ग्रामदान मे दिये जाने का उल्लेख है। परन्तु इससे यह प्रमाणित नही होता कि कृषि योग्य भूमि पर राज्य का

1 एनुअल रिपोर्ट ऑफ सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी, 1935, पृ 6
2 इ आई, 11, पृ 47
3 वही, 22, पृ 196-98
4 वही।
5 वही, 36, पृ 95
6 इ आई, 35, पृ 241-42
7 वही, पृ 244-45

स्वामित्व था। दानपत्रो मे किसानो को अपनी भूमि छोडने के आदेश नही दिये गये थे। उनसे केवल यह अपेक्षित था कि वे राज्य के स्थान पर दान पाने वालो को कृषि कर आदि तथा यथोचित सम्मान देंगे। कामा(भरतपुर) अभिलेख मे उन्नट का एक गाव पर अधिकार होना निर्देशित है।[1] इन उदाहरणो से वैयक्तिक भू-स्वामित्व अवधारणा की समुचित सम्पुष्टि होती है।

परन्तु इसके बावजूद भारतीय नरेशों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति ने भूमि पर उनके स्वत्व को निरन्तर सुदृढ किया। आपस्तम्ब की व्यवस्थानुसार भूगर्भ से प्राप्त सम्पति पर राजा का अधिकार होता है न कि खनक का।[2] कौटिल्य भी राजा के भूमि-स्वामित्व के पक्ष मे है।[3] राज्य की ओर से व्यक्ति को कृषि के लिए भूमि प्रदान की जाती थी। भली भाति कृषि न हो पाने की स्थिति मे उस व्यक्ति से भूमि ले ली जाती थी। 'अर्थशास्त्र' के कथन पर टीका करते हुए भट्टस्वामी ने मत व्यक्त किया है कि राजा भूमि और जल दोनो का स्वामी है।[4] मनु ने भूमि पर राजा के अधिकार को ही मान्यता दी है।[5] 'मानसोल्लास' के लेखक सोमेश्वर (12 वी शताब्दी) ने भी इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है।[6] 'मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने भी राजा के भू-स्वामित्व को स्वीकार किया है।[7] समय समय पर राजा द्वारा भूमि पर राजस्व लगाया जाना उसके भूमि पर सैद्धातिक स्वामित्व का प्रमाण है। राजा को भूमि की उपज का कुछ भाग प्राप्त करने का अधिकार था। सम्पूर्ण राज्य का प्रभु (स्वामी) होने के कारण वह अन्न, फल, फूल, वृक्ष, जल निधि इत्यादि लेने का अधिकारी था। इनके उत्पादको से वह अपना भाग प्राप्त करता था। विचाराधीनकाल के अभिलेखो मे राजाओ द्वारा खेत, भूमिखण्ड तथा ग्राम ब्राह्मणो, मन्दिरो, पदाधिकारियो, सामन्तो इत्यादि को प्रदान किये जाने के प्रमाण मिलते हैं जो उसके भू-स्वामित्व के द्योतक है। वि. स.900 के प्रतिहार भोजदेव के दौलतपुरा ताम्र अभिलेख से विदित होता है कि वत्सराज ने भट्टहर्षुक के पितामह वासुदेव को 'सिव' ग्राम का

1 इ आई 24, पृ. 329
2 2/11/28,1/6/8
3 अर्थशास्त्र, 2/24
4 वही 2/24 भट्टस्वामी का भाष्य
5. मनुस्मृति, 8/39
6 मानसोल्लास 1/361-62
7 मनु, 8/39 पर मेधातिथि की टीका।

छठा भाग भट्टविष्णु को दान मे दिया था। इस दान की अनुमति नागभट ने प्रदान की थी। भोजदेव के शासनकाल मे यह ग्राम राजकीय अधिकारान्तर्गत था। अतएव भट्टहर्षुक ने इसकी पुन प्राप्ति के लिए भोजदेव मे प्रार्थना की। भोजदेव ने सम्पूर्ण विषय की जाच कराने के पश्चात अपने माता पिता के पुण्य व यश की वृद्धि के लिए भट्टवासुदेव तथा भट्टविष्णु के वशजो को उक्त ग्राम दान दिये जाने के हेतु समुचित आदेश दिये थ। इसकी सूचना ग्रामवासियो तथा सभी पडोसियो को दी गयी थी और उन्हे आदेश दिया गया था कि वे 'सिव' ग्राम का राजस्व दान पाने वालो का दें।[1] वि स 1003 के प्रतापगढ अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि कनोजाधिपति महेन्द्रपाल ने धनशूर की प्रार्थना पर खरपरद्रक नामक ग्राम के सभी राजकीय अधिकारो सहित यक्षिणीदेवी के मन्दिर के निमित्त अर्पित किया था। इसकी सूचना ग्राम तथा आसपास के निवासियो को दी गई थी। इसी अभिलेख की सूचनानुसार सामन्त इन्द्रराज की प्रार्थना पर महासामन्त दण्डनायक माधव ने धारापद्रक ग्राम साज सामान और अनुपगी पदार्थों सहित महाकाली के उज्जैन नगरी स्थित मन्दिर को दान स्वरूप प्रदान किया था। इसकी सूचना सम्बन्धित ग्रामवासियो को दी गई थी।[3] वि स 999 मे गुहिल शासक खुमाण के पुत्र भर्तृपट्ट ने पल्लासकूपिका ग्राम के निकट नन्दया नदी के किनारे एक 'बब्बूलिका' खेत अपने तथा अपने पूर्वजो के पुण्य एव यश की वृद्धि हेतु इन्द्रादित्यदेव को प्रदान किया था।[4] वि स 1016 के राजौर अभिलेख[5] से ज्ञात होता है कि मथनदेव ने व्याघ्रपाटक ग्राम को लच्छुकेश्वर महादेव के मन्दिर के निर्वाह के लिए इस मन्दिर की स्थापना के समय दान म दिया था उसी समय ग्राम के साथ जुडी हुई गोचर भूमि, घास, वृक्ष इत्यादि पर भी मन्दिर के अधिकार की घोषणा की गई थी। ग्राम सम्बन्धी सभी प्रकार की आय-उद्रङ्ग, भोग, खलभिक्षक, प्रस्थक, स्कन्धक, मरणक दण्ड इत्यादि से प्राप्त आय-मन्दिर के ताल के धापित की गई थी। इसके अतिरिक्त इसमे पडौस के गुर्जरो द्वारा जोते गये खेत सम्मिलित किये गये थे। ग्राम मे चुगी और बिक्री कर मे प्राप्त आय भी मन्दिर को प्रदान की गयी थी।

वि स 1030 के हर्ष अभिलेख के अनुसार हर्षनाथ के मन्दिर का निर्माण चाहमान शासक विग्रहराज के समय हुआ। इस अभिलेख मे मन्दिर

---

1 इ आई, 5, पृ 211
2 वही, 14, पृ 176-188
3 वही।
4 वही।
5 वही, 3, पृ, 263

के निर्वाह के लिए अनेक ग्राम दान स्वरूप दिये जाने का उल्लेख है। नमक और घोडो की बिक्री पर कर के रूप मे ली जाने वाली धन राशि भी मन्दिर को अर्पित की गई थी। इसमे सात दाताओ के नाम उत्कीर्ण है जिनमे एक स्वय राजा है, दूसरा एक पदाधिकारी धधक, और शेष पाच राज परिवार के सदस्य।[1]

वि स 1051 के बालेरा दानपत्र मे परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीमूलराजदेव द्वारा अपने पूर्वजो के पुण्य और यश वृद्धिहेतु सांचोर (सत्यपुर) मण्डलान्तर्गत वरणक ग्राम के दान का विवरण प्राप्त होता है। यह दान ब्राह्मणो, राजपुरुषो तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियो को सम्बोधित करते हुए वृक्षो, काष्ठ, तृण (घास), जल पर अधिकार सहित दीर्घाचार्य नामक ब्राह्मण को दिया गया था।[2]

दुर्लभराज चौलुक्य कालीन वि स 1069 के जोधपुर से प्राप्त ताम्र पत्र म भीनमाल मण्डल के अन्तर्गत क्षत्रियपद नामक गाव को ब्राह्मण गोविन्द के पुत्र नाणक को दिये जाने का उल्लेख है। इस सम्बन्ध मे ग्राम के सभी सम्भावित अधिकार दानभोगी को हस्तान्तरित किये गये थे।[3] केल्हणदेव के वि स 1223 के बाणेरा दानशासन से विदित होता है कि उसने राजपुत्र अजयराज की सम्पत्ति मे से वृक्षो सहित एक कुआ नारायण नामक ब्राह्मण को दान दिया था। इस दानपत्र पर नाडोल के स्वामी केल्हणदेव के हस्ताक्षर अंकित है। अजयराज ने भी एक अन्य कुआ इसी ब्राह्मण को देवोत्थान एकादशी के अवसर पर दिया था।[4]

परमार नरेश धारावर्ष के वि स 1237 के हाथल ताम्रपत्र मे माहिलवाडा ग्राम की गोचर भूमि शैवधर्माचार्य भट्टारक बिसलउग्रदम को बिना शुल्क पशु चराने के अधिकार प्रदान करने का उल्लेख है। इसके साथ ही उसे दो हलबाह भूमि तथा धान के खेत दान मे दिये गये थे।[5] कुछ इसी प्रकार की सूचना चौलुक्य द्वितीय भीमदेव के गुहिलवशी सामन्त अमृतपाल के वि स 1242 के दान पत्र से प्राप्त होती है। तदनुसार जल, नवनिधान और अन्य सम्पत्ति के साथ अरहट एवं दो हलबाह भूमि दान मे दी गई थी।[6]

1 वही 2 पृ 116 अ
2 वही, 10 पृ 78 अ
3 वही 36, पृ 95
4 वही, 13, पृ 206
5 आई ए, 43, प 193
6 ओझा निबन्ध सग्रह, 2, पृ 197

बारहवीं शती के नाणा (मारवाड) ताम्रपत्र मे एक महत्त्वपूर्ण सूचना प्रदान की गई है जिससे राजा के भू-स्वामित्व के अतिरिक्त प्रजा पर भी स्वामित्व (अधिकार) होना प्रमाणित होता है। इस दान शासन के अनुसार नाडोल के चाहमान शासकों ने त्रिपुरुषदेव चन्दलेश्वर और गौरी के मन्दिर म कुछ व्यक्तियो का भी दान के रूप मे प्रदान कर नियुक्त किया था। उदाहरणार्थ महाराजाधिराज रत्नपाल ने नोरिया नामक व्यक्ति को मन्दिर म सेवार्थ नियत किया था। इसी प्रकार सोहिया और आसाइच नामक दो कुटुम्बिक (गृहस्थ) कृषक मन्दिर के निमित्त नियुक्त किए गये थे। इन व्यक्तियो की गणना अर्द्धदासा म की जा सकती है।[1]

उपर्युक्त अभिलेखा से स्पष्ट है कि राजा क भू-स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त व्यापक थे। वह अपने अधिकार हस्तान्तरित भी कर सकता था। इससे यह भी सकतित है कि भूमि पर राजा का निर्बाध स्वामित्व था। इन अभिलेखो से स्पष्ट है कि राजा के भू-स्वामित्व और राज्य के भू-स्वामित्व मे स्पष्ट अन्तर था। राजा भूमिदान देते समय अपने तथा अपने पूर्वजो, (यथा माता-पिता) के पुण्य और यश की कामना करता था, राज्य के कल्याण तथा यश की नही। इसका अभिप्राय है कि राजा एक भू-स्वामी के रूप म दान देता था। हमारे अध्ययनकाल म राजस्थान मे सामन्त प्रथा विकसित हो चुकी थी। व्यक्तिगत और राजकीय भू-स्वामित्व सिद्धान्तो ने सामुदायिक भूस्वत्वों को निर्बल बना दिया था। सामुदायिक भूमि को निजी सम्पत्ति के रूप म परिवर्तित करने की प्रवृत्ति लोकप्रिय हो चली थी। राजकीय पदाधिकारियो को भी राज सेवा के बदले मे वेतन न देकर भूमि दी जाती थी। वे इसके उपयोग मे बहुत अशो तक स्वतन्त्र थे। वे अपनी भूमि का कुछ भाग दान के रूप मे भी दे सकते थे। यद्यपि इसके लिऐ कभी कभी उन्हे राजा स स्वीकृति प्राप्त करनी पडती थी। राजा सर्वोच्च भू-पति था उसके अधीन अन्य अनेक भूमिपति थे। इसे सामन्तीय विकेन्द्रीकरण की सज्ञा दी जा सकती है।

नगर और ग्राम

विचाराधीनकाल में राजस्थान के जनजीवन म युद्धो का प्रमुख स्थान था। राजा सामान्यतया महत्त्वकाक्षी होते थे। उन्हे राज्य विस्तार हेतु युद्ध करना पडता था। राजा और राज्य के लिए राजधानी (पुर, दुग) का अत्यधिक महत्त्व था। राजधानी राजनीतिक तथा सास्कृतिक जीवन का केन्द्र होती थी।

---

1 ई आई 33, पृ॰ 238-246

ऐसी स्थिति में राजधानी को भली भांति सुरक्षित रखने के लिये सभी उपयुक्त साधनों का उपयोग किया जाता था। सामान्यत राजधानी एक ऐसे ऊचे स्थान पर बनाई जाती थी जहा से चारो ओर दूर तक देखा जा सके और जहा पर प्रचुर मात्रा में पानी उपलब्ध हो। राजधानी की सुरक्षा के लिए उसमे दुर्ग का निर्माण आवश्यक होता था। नगर के चारो ओर प्राकार निर्मित किया जाता था जिसमे कई विशाल द्वार होते थे। 'उपमितिभव प्रपच' कथा के अनुसार नगर के चारो ओर एक प्राकार होता था। इसके परे पानी से भरी हुई खाई होती थी इसमे मकरादि हिंसक जलचर रहते थे।[1] नगर मे व्यापारियो के लिए बाजार तथा नागरिको के रहने के लिए मकान होते थे। पर्याप्त जल के लिए झील, तालाब, और कुओ की व्यवस्था रहती थी। 'पृथ्वीराजविजय' से ज्ञात होता है कि अजमेर नगर चारो ओर से काटेदार वृक्षो व झाडियो से घिरा हुआ था तथा मन्दिरो, कई मन्जिलो वाले मकानो, बावडियो, तालाबो आदि से सुशोभित था।[2]

उक्त विवरण की सम्पुष्टि अभिलेखो से भी होती है। वि स 918 के पटियाला अभिलेख से ज्ञात होता है कि हरिचन्द्र के चार पुत्रो ने मिलकर माण्डव्यपुर (मण्डोर) दुर्ग का ऊचा प्राकार बनवाया था।[3] वैरिसिंह ने शत्रुओ द्वारा विनष्ट किए गए आहड नगर के प्राकार का पुनर्निर्माण करवाया था। इसमे चतुर्दिक् एक-एक द्वार की व्यवस्था थी।[4] वसन्तगढ (सिरोही) की लाहण बावडी प्रशस्ति (वि स 1099) के अनुसार इस वापी का निर्माण लाहिणी के पुण्यार्थ करवाया गया था। उक्त प्रशस्ति मे वटपुर नामक नगर के निर्माण का उल्लेख हुआ है जो सरोवरो, निवासगृहो, राजप्रासाद, प्राकार, दुर्ग इत्यादि से युक्त था। नगर मे रहने वाले ब्राह्मणो, सैनिको और गणिकाओ इत्यादि के आवासो का उल्लेख है।[5] स्थापत्य और भवन निर्माण मे अत्यधिक रुचि रखने वाले जालौर नरेश समरसिंह ने कनकाचल गढ के चतुर्दिक् परकोटे का निर्माण कराया था।[6]

---

1 द्र पृ 7, 105, 312, 385 साहित्य से प्राप्त सूचनाओ की पुष्टि अजमेर, अलवर, चाटसू इत्यादि नगरो के भग्नावशेषो से भी होती है।
2 पृथ्वीराजविजय, 5/119
3 इ आई, 9, पृ 12
4 वही, 31, पृ 325
5 वही, 9, पृ 11
6. वही, पृ 73

नगर योजना के अन्तर्गत दो बड़ी-बड़ी सड़कों की व्यवस्था होती थी। इन्हे महाराज मार्ग कहा जाता था। यह परस्पर समकोण पर मिलती थी।[1] इनसे जुड़ी हुई छोटी-छोटी सड़कें भी होती थी जिन्हे 'रथ्य' व 'महारथ्य' कहते थे। नगर और उपनगर विभिन्न खण्डो मे विभाजित थे जिन्हे सम्भवतः 'पाटक' की आख्या प्रदान की जाती थी। 'पाटक' चतुष्क (चौकोर) त्रिक (त्रिकोणाकार) आकार मे बटे रहते थे। सड़को के घुमाव के लिए पर्याप्त स्थान रहता था। नगर मे बाजारो की व्यवस्था थी। इन नगरो में वाणिज्य-व्यवसाय के लिए व्यापारी वर्ग सुदूर क्षेत्रो से आते थे।[2] नगर के उल्लेखनीय स्थलो में राजभवन, देवालय, सरोवर (वापी) कुएं तथा उद्यान आदि होते थे।[3] चाहमान अर्णोराज को पराजित करने के उपरान्त स्वदेश जाते समय चौलुक्य नरेश कुमारपाल शालिपुर से चित्तौड़ गया था। वह चित्तौड़ के राजप्रासाद, देवालयो, वापी, झील, उद्यानो और उपवनो से अत्यधिक प्रभावित हुआ था।[4]

राजस्थान के चित्तौड़, अजमेर, जालौर, आबू, साम्भर, जैसलमेर, मण्डोर, आहड़ इत्यादि राजधानी-नगर सुन्दरता की दृष्टि से ही नही, सुरक्षा की दृष्टि से भी उत्तम थे। दुर्गों को सुदृढ और सर्वसाधन सम्पन्न बनाने का प्रयास किया जाता था। पानी की समुचित व्यवस्था के लिए तालाब, झील व कुओ का निर्माण किया जाता था। चित्तौड मे राजा मानमोरी[5] ने मान-सरोवर नामक सुन्दर सरोवर का निर्माण करवाया था। उस युग मे पानी की समुचित व्यवस्था करना राजा का दायित्व होता था। राजा लोग प्रायः राजधानी या तो किसी नदी के किनारे बनाते थे या फिर उसके निकट किसी सरोवर का निर्माण करवाते थे। चाहमान शासक अजयराज ने 'अजयमेरु' (अजमेर) बसाया था। उसके पुत्र अर्णोराज ने वहा आनासागर झील का निर्माण करवाया था।[6] वि. सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख[7] से ज्ञात होता है कि इसके आस पास का क्षेत्र उतमाद्री कहलाता था। सम्प्रति, इसे

1. आई. ए., 29, पृ. 189
2. बी. आई., 2, पृ. 67-68
3. द्र., कुवलयमाला, पृ. 122, 500, 203 और 208, वर्णाकोप प्रकरण, पृ. 11-12
4. इ. आई., 2, पृ. 422
5. वी. वि., पृ. 378-386
6. पृथ्वीराजविजय, 6/21-25
7. इ. आई., 26, पृ. 90 म. बिजोलिया नगर कुटिला नदी पर स्थित था।

उपरमाल कहा जाता हैं। मेवाड का यह पूर्वी भाग उस समय अत्यन्त उपजाऊ धनधान्य सम्पन्न और वाणिज्य-व्यवसाय का केन्द्र था।[1] इस तथ्य की पुष्टि सोमाली अभिलेख से भी होती है। यहा 'वटनगर' से आये हुय व्यापारियो के प्रमुख जेन्तक ने अरण्यवासिनी देवी के भव्य मन्दिर का निर्माण करवाया था।[2]

नगरो म विभिन्न जातियो तथा व्यवसायिक श्रेणियो के लिए पृथक् पृथक् आवास खण्डो की व्यवस्था की जाती थी। तदर्थ ब्राह्मण, सैनिक, स्वर्णकार, कुम्भकार, नापित श्रमिक आदि वर्गों की पृथक् पृथक् बस्तिया रहती थी। मेवाड के गुहिल नरेश पद्मसिंह के चलकेश्वर महादेव के मन्दिर मे लिखित अभिलेख म तेलीवाडा का उल्लेख हुआ है।[3] वि स 1190 के इगनौडा अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि विभिन्न जातियो के आवास पृथक्-पृथक् मोहल्लो मे थे। ब्राह्मणो के क्षेत्र को प्राय ब्रह्मपुरी कहा जाता था। शूद्र, मछुए, कसाई, वधिक इत्यादि निम्न जातिया नगर के परकोटे के बाहर रहती थी।[5] नगर मे विभिन्न वस्तुओ के क्रय विक्रय के लिए पृथक् पृथक् बाजारो की व्यवस्था होती थी। पृथ्वीचन्द्रचरित्र, सभाशृ गार, वर्णसमुच्चय इत्यादि समसामयिक ग्रथो म चौरासी प्रकार के बाजारो का वर्णन प्राप्त होता है। इसमे कुछ अत्युक्ति हो सकती है, परन्तु कपडा, फूल, फल, सब्जी, जवाहरात आदि के लिए पृथक् बाजार होने की निश्चित सूचना उपलब्ध है। जौहरी बाजार सामान्यत नगर के मध्य भाग मे स्थित होता था। कामा के वि स 963 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि पशुओ के क्रय-विक्रय के लिए पृथक् बाजार था जिसे 'कम्बलीहाट्ट' कहा जाता था।[6] मण्डोर के शासक कक्कुक ने रोहिंसकूप (घटियाला) नगर मे तीनो वर्गों के रहने के लिए मकानो का निर्माण करवाया था और नियमित बाजार की व्यवस्था की थी। नगर मे सुदूर क्षेत्रो के व्यापारी बसाए गये थे।[7] जैसाकि सारणेश्वर प्रशस्ति से सकेतित है व्यावसायिक नगरो मे समय समय पर निश्चित वार और तिथियों को विशेष मेले तथा बाजार (हाट) लगाये जाते थे।[8]

---

1 वही।
2 वही, 20, पृ 97-99
3 वरदा, वर्ष 9, 1, पृ 55
4 आई ए, 6, पृ 55-56
5. बुद्धिस्ट रेकार्डस ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, 1, पृ 73-74
6 इ आई, 24, पृ 331
7 वही, 9, पृ 277-79
8 बो. आई, 2, पृ 67-68

विचाराधीनकाल में राजस्थान के नगरों को मूलत तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग म ऐसे नगर थे जिनका राजनीतिक महत्त्व था। इनका विकास राजधानियों, जिला प्रशासकीय केन्द्रों तथा महासामन्तों के कार्यालयों व निवास स्थानों के रूप में हुआ था। इनका सामरिक महत्त्व भी था। इनमें से कुछ नगर किलो के चारों ओर बसे हुए थे। चित्तौड़, अजमेर, नाडोल, जालौर, साम्भर, आबू, जैसलमेर, आहड़, मण्डोर, शेरगढ़ नारायणा, माण्डलगढ, रणथम्भौर इत्यादि की गणना इस वर्ग मे की जा सकती है। द्वितीय वर्ग के नगरों का महत्त्व आर्थिक दृष्टि से था। हमारे अध्ययनकाल मे राजस्थान में व्यापार वाणिज्य को विशेष सुविधा प्रदान की जाती थी। इसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र मे आशातीत उन्नति हुई। प्राचीन नगर समृद्ध होने लगे तथा नये नगरों का उदय हुआ। ऐसे नगर प्राय व्यापारिक मार्गों और नदियों के किनारों पर अवस्थित थे। पाली, चन्द्रावती, नरहड, भीनमाल, जालौर, नागदा, आहड, नागौर इत्यादि समृद्ध व्यापारिक नगर थे। तीसरे वर्ग मे उन नगरों की गणना की जा सकती है जो सांस्कृतिक और धार्मिक घटकों के कारण विकसित हुए थे। इनम प्रति वर्ष हजारो की सख्या मे तीर्थ यात्री और पर्यटक आते थे। ऐसे नगरो मे ब्राह्मणो की सख्या अपेक्षाकृत अधिक रहती थी। अजमेर नगर की महत्ता पुष्कर तीर्थ के कारण थी। साम्भर का महत्त्व देवयानी तीर्थ के कारण था और आहड की ख्याति गगोदभेदतीर्थ के कारण थी। नागदा नगर का महत्त्व एकलिंगजी के मन्दिर के साथ जुड़ा हुआ था। श्रीमाल और वरमाण सूर्य मन्दिर के कारण प्रसिद्ध थे। इसी प्रकार हर्षनाथ बिजौलिया, मेनाल, बीसलपुर इत्यादि नगर अपने मन्दिरों और धार्मिक महत्व के कारण प्रसिद्ध थे। ओसिया, पाली, किराडू, खण्डेला, हसौर, साचोर, आहड, कोरट, श्रीमाल इत्यादि नगर जैन धर्म के केन्द्र व तीर्थ थे। यहा जैन धर्म के अनुयायियो की सख्या अपेक्षया अधिक थी।[1]

नगरो मे मन्दिरो,[2] बाजार की दुकानो, राजभवनो, तालाबो, बावडियो कूपो व अन्य भवनो के निर्माण म अनेक श्रमिक और शिल्पियो को कार्य मिलता था। विशाल भवन व मन्दिर निर्माण के पूर्व उनकी योजना और

1 नगर सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए द्र, जैन के सी, एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, राय यू एन सिटी एण्ड सिटी लाइफ।

2 सारणेश्वर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि सारणेश्वर मन्दिर का निर्माण उत्तम सूत्रधार मग्रट ने किया था।

प्रारूप तैयार किये जाते थे। इसके लिये विशिष्ट योग्यता वाले व्यक्तियो की सेवाए प्राप्त की जाती थी। इस वग के लोग अपना पेशा आनुवाशिक रूपेए अपनाते थे।[1] मन्दिरो और भवनो के विभिन्न स्तम्भो और आधारपट्टो को अलकृत किया जाता था। दरवाजो की चौखटो को भी विभिन्न प्रकार के पशुपक्षियो और बेल बूटो से सजाया जाता था। निर्माण कार्यों मे पर्याप्त धन व्यय किया जाता था। मन्दिरो म आराधना और आमोद के लिए सगीत गोष्ठियों का आयोजन होता था। यह कार्य प्रमदकुला द्वारा सम्पन्न किया जाता था।[2] इनके साथ वाद्य वादक भी रहते थे।[3] प्राय प्रत्येक से दो चार प्रमदाओ का सम्बन्ध रहता था।[4] विशेष अवसरो पर मन्दिरा मे उत्सवा का आयोजन होता था। ऐसे अवसरो पर सभी प्रमदाए एकत्र की जाती थी। सभी वर्गों के लोग साजसज्जा के साथ इसमे सम्मिलित होते थे।[5]

मुख्य उद्योग धन्धे

हमारे अध्ययनकाल मे जनता के जीविकोपार्जन का प्रधान साधन पूर्ववत् कृषि कम ही था। कृषि द्वारा मुख्यतः गेहू, बाजरा, ज्वार, मोठ, मूग, चना तिल आदि का उत्पादन होता था। कई स्थाना पर वर्ष मे दो फसलें भी होती थी। फलोदी से प्राप्त वि स 1236 के एक अभिलेख मे सियालु तथा उनालु नामक फसलो का उल्लेख हुआ है।[6] बीजापुर से प्राप्त राष्ट्रकूट शासक धवल के वि स 1053 के अभिलेख म प्रत्येक अरघट्ट से एक आढक गेहू तथा जो और मूग, दाल, इत्यादि के प्रत्येक द्रोण पर एक माणक कर लिये जाने का उल्लेख हुआ है।[7] अश्वराज के वि स 1167 के सेवाडी अभिलेख म पद्राडा, भेद्रचा, छेछडिया व मद्दडी ग्रामो मे स्थित प्रत्येक रहट से एक हाटक जो प्रदान किये जाने का उल्लेख है।[8] केल्हणदेव के वि स 1233 के लालराई से प्राप्त अभिलेख मे श्री शातिनाथदेव की यात्रा-उत्सव

1 बिजौलिया के जैन मन्दिर का सूत्रधार माहणक था, जो हर्सिग तथा आहल्लण सूत्रधार का वशज था।
2 इ आई, 11, पृ 26
3 वही।
4 इ आई, 33, पृ 240
5 वही, 11, पृ 27
6 जे पी ए एस बी, 12, पृ 93
7 इ. आई, 11, पृ 20
8 वही, पृ 28

के निमित्त मदियाउव ग्राम के उरहारि रहट से एक हाटक जौ प्रदान किये जाने का उल्लेख हुआ है।[1] कपास के विस्तृत खेतों का वर्णन 'शृंगारमन्जरीकथा' में हुआ है।[2]

राजस्थान के उद्योगो मे तेल, नमक, गुड, शक्कर इत्यादि का उत्पादन सम्मिलित था। साम्भर, डीडवाना और पचपद्रा की झीलों से भारी मात्रा मे नमक का उत्पादन होता था। वि स. 1030 की हर्षनाथ प्रशस्ति मे नमक के प्रत्येक कूटक पर मन्दिर के निमित्त एक विशोपक दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[3] अनेक अभिलेखो मे 'घाणक' का उल्लेख मिलता है।[4] रायपाल के वि स. 1189 के नाडलाई अभिलेख मे दान विवरण मे आदेश दिया गया है कि प्रति घाणक से दो पल्लिका तेल नाडलाई और बाहर से आये जैन सन्तो को प्रदान किया जाय।[5] इसी स्थान के एक अन्य अभिलेख में रायपाल के एक राउत राजदेव द्वारा रथ यात्रा उत्सव पर एक घाणक से दो पल्लिका तेल दिये जाने का आदेश है।[6] 'शृंगारमन्जरीकथा' मे गन्ने के बडे-बडे खेतो का वर्णन हुआ है।[7] राजस्थान के मालवा क्षेत्र की सीमा से लगे भाग मे गन्ने का उत्पादन होता था। इससे शक्कर व गुड बनाये जाते थे।

राजस्थान की प्राकृतिक सम्पदा और खाने अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रसिद्ध है। 'जावर' के निकट अरण्यगिरि मे ताम्बे और जस्ते की खाने थी।[8] देश के विभिन्न क्षेत्रो से व्यापारियो का यहा बसना इस क्षेत्र का

---

1. वही, पृ. 49
2. शृंगारमन्जरीकथा, पृ 67-68। इससे स्पष्ट है कि राजस्थान के कुछ भागो मे कपास की खेती होती थी।
3. इ.ग्राई, 2. पृ. 121-22
4. (अ) बीजापुर अभिलेख, वि.स. 1053, इ.ग्राई.. 10, पृ. 20
   (ब) नाडलाई के आदिनाथ मन्दिर का अभिलेख, वि.स. 1118, नाहर, जै.ले.स., 1, पृ. 212
   (स) चित्तौड़ का अभिलेख, वि.सं. 1207, इ.ग्राई., 2, पृ. 421
   (द) गुहिल पर्यासिंह का अभिलेख, वि.सं. 1242, वरदा, 9, 1, पृ. 55
5. इ.ग्राई, 11, पृ. 35
6. वही, पृ. 41
7. शृंगारमन्जरीकथा, पृ. 67-68
8. इ.ग्राई., 20, पृ. 97-99

समृद्धि तथा खनन-उद्योग के महत्त्व का परिचायक है। मेवाड के माण्डलगढ क्षेत्र, जालौर और सोजत की खानो से जस्ता और ताम्बा निकाला जाता था।[1] वि स 1053 के हस्तिकुण्डी अभिलेख मे ताम्बे के भार पर 10 पल राजकीय कर लिये जाने का उल्लेख है। इससे ताम्बे के उत्पादन का ज्ञान होता है।[2] धातुओ के अतिरिक्त सगमरमर का व्यावसायिक महत्त्व था। राजस्थान के मकराना क्षेत्र का सगमरमर सम्पूर्ण भारत मे प्रसिद्ध था। उस समय के भवनो म मकराना के सगमरमर, जैसलमेर के पत्थर और लाल पत्थर का अधिक प्रयोग किया गया है।[3]

कृषि के अतिरिक्त पशुपालन[4] अन्य प्रमुख उद्योग था। कुछ अभिलेखो मे शासको द्वारा चरागाह के लिए भूमि दान का उल्लेख हुआ है। परमारो की आबू शाखा के शासक धारावर्ष के वि स 1237 के हाथल ताम्रपत्र मे 'गोचर' का उल्लेख हुआ है जो स्पष्टत चरागाह का द्योतक है।[5] पशुपालन से गावो मे दूध, घी, ऊन (यथा भेड, बकरी और ऊट के बाल) इत्यादि का उत्पादन होता था। अभिलेखो म सूत व्यापार, बुनकरो और कपडा उद्योग का भी उल्लेख हुआ है।[6] इस युग मे स्वर्णाभूषणो का व्यापक प्रचलन था, अत इनका निर्माण प्रचुर मात्रा म होता था। इसके प्रमाण साहित्यिक उल्लेखा और मूर्ति निर्माणकला से प्राप्त होते हैं। स्त्री पुरुष दोनो ही आभूषण धारण करते थे। स्वर्णकार अत्यन्त कुशल और दक्ष होते थे। कल्याणपुर से प्राप्त सातवी शताब्दी के अभिलेख का उत्कीर्णकर्त्ता नागादित्य[7] वि स 840 के तासी से प्राप्त अभिलेख का उत्कीर्णक माहर,[8] वि स 918 के घटियाला अभिलेख[9] का उत्कीर्णक कृष्णेश्वर आदि स्वर्णकार थे। मण्डोर से प्राप्त 12वी शताब्दी के एक अभिलेख मे स्वर्णकार शब्द उत्कीर्णक प्रतीत होता है।[10]

---

1 ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ 8
2 इ आई, 10, पृ 17-20
3 रा अ ए, पृ 491
4 आहड के विष्णु मन्दिर मे कुछ फलक ऐसे है जिन पर गाय, भैस इत्यादि पशुओ को उत्कीर्ण किया गया है।
5 आई ए, वर्ष 1941, पृ 193-94
6. अ चौ डा, पृ 299
7 इ आई, 35, पृ 58
8 वही, 36, पृ 49
9 वही, 9, पृ 280
10 आ स एन रि, 1909-10, 2, पृ 102

लोहे की वस्तुए बनाने वाले को 'लुहार'[1] कहा जाता था। लोह कर्मी अस्त्र शस्त्र, कृषि सम्बन्धी उपकरण और भवन निर्माण के काम आने वाली वस्तुओ इत्यादि का निर्माण करते थे।[2]

मिट्टी के बर्तनो का निर्माण करने वाले 'कुम्हार' कहलाते थे। वि स. 1053 के हस्तिकुण्डी अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुम्हारो के व्यवसाय पर भी कर लगता था।[3] फूलो और मालाओ का व्यापार करने वाले मालियो का व्यवसाय समुन्नत स्थिति मे था। सारणेश्वर प्रशस्ति मे मन्दिरो के निमित्त मालियो से प्रतिदिन एक माला लिये जाने का आदेश दिया गया है।[4]

सिंचाई व्यवस्था

हमारे अध्ययनकाल मे भूमि की सिंचाई यद्यपि सामान्यतया वर्षा से होती थी तथापि राज्य द्वारा भी सिंचाई के कृत्रिम साधनो द्वारा भूमि की उर्वरता बढाने के उपाय किये जाते थे। प्राचीनकाल से ही भारतीय शासक नहर, तालाब, कुए, बावडिया, जलाशय इत्यादि के निर्माण का दायित्व वहन करते थे। महाक्षत्रप प्रथम रुद्रदामा की जूनागढ प्रशस्ति (150 ई) से ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने गिरनगर मे एक झील का निर्माण करवाया था।[5] उससे अशोक ने नहरें निकलवायी थी तथा बाद मे रुद्रदामा[6] तथा गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त[7] द्वारा इस झील का पुनर्निर्माण कराया गया था। हाथीगुम्फा अभिलेख[8] से ज्ञात होता है कि कलिंगाधिराज खारवेल ने अपने राज्याभिषेक के पाचवें वर्ष प्रजाहितार्थ राजधानी तक जलवाहक नहर निर्मित कराने का यश प्राप्त किया था।

इस प्रकार के उदाहरण राजस्थान से भी प्राप्त हैं। चितौड के शासक मानमोरी ने चित्तौड मे 'मानसरोवर' नामक सुन्दर झील का निर्माण

---

1. आहड ग्राम के 10 वी शताब्दी के विष्णु मन्दिर (सम्प्रति मीरा मन्दिर) के गर्भगृह के पीछे की एक चित्रावली मे कुछ लघु फलक उत्कीर्ण हैं, जिनम से एक मे लोहार को कार्य करते हुए दिखलाया गया है। वरदा, 11, 3, पृ. 43
2. वही
3. ए आई, 10, पृ 17-20
4. वी. आई., 2, पृ. 67-68
5. इ आई., 8, पृ. 42
6. वही।
7. कार्पस, 3, पृ. 50
8. इ. आई., 20, पृ. 72

करवाया था।[1] चाहमान शासक अर्णोराज ने अजमेर में 'आनासागर' का निर्माण करवाया था।[2] चाहमान वीसलदेव को 'विशालसर' नामक सरोवर के निर्माण का श्रेय प्राप्त है।[3] भोज परमार ने चित्तौड़ के निकट 'भोजसर' का निर्माण करवाया था।[4] आबू शाखा के परमार शासक पूर्णपाल की बहिन लाहिनी ने एक बावड़ी (वापी) का निर्माण करवाया था।[5] वि स 1212 के थक्राडा अभिलेख मे महाराजपुत्र अनगपाल द्वारा एक छोटी तलाई के निकटवर्ती खेत को दान दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[6] इससे स्पष्ट है कि राजा लोग सिंचाई युक्त भूमि का दान भी करते थे। अभिलेखों मे 'रहट' पर कर लगाने का वर्णन मिलता है। बाली पाषाण अभिलेख (वि स 1200) मे देवी पूजन निमित्त प्रत्येक रहट' से एक द्रम्म कर लिये जाने का आदेश दिया गया है।[7] स्पष्टत 'रहट' जैसे कृत्रिम साधन भी सिंचाई के लिए प्रयुक्त किए जाते थे।[8]

राजाओं का अनुकरण करते हुए सामन्त, गण्यमानजन तथा सर्वसामान्य लोग भी इस प्रकार के निर्माण कार्यों म रुचि लेते थे। मण्डोर की एक बावडी से प्राप्त वि स 742 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण चाणक के पुत्र माधु ने इस बावडी का निर्माण करवाया था।[9] भटुण्ड से प्राप्त वि स 1102 के अभिलख की सूचनानुसार 22 ब्राह्मणों तथा एक क्षत्रिय द्वारा भूण्डिपद्र नामक गाव म एक बावडी का निर्माण कराया गया था।[10] झालरापाटन से प्राप्त वि स 1143 के अभिलेख से स्पष्ट है कि तेली पटेल न एक वापी का निर्माण करवाया था।[11] वि स 1234 के

1 टॉड, एनाल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज ऑफ राजस्थान, 1, पृ 625
2 पृथ्वीराजविजय, 6, श्लोक 21-25
3 वही, आदि पव, श्लोक 364
4 इ आई, 24, पृ 317
5 वही, 9, पृ 11
6 आई ए, 41, पृ 225
7 इ आई, 11 पृ 32
8 रहटो के चित्र भित्तियो पर प्राप्त हुए हैं। एक 'रहट' चित्र मण्डोर से प्राप्त हुआ है। दूसरा 'रहट चित्र सादडी के जोगेश्वर मन्दिर की छत पर उत्कीर्ण है। द्र मरू भारती, 1968, पृ 1-3
9 एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ आर्क्योलोजिकल डिपार्टमेण्ट, जोधपुर, 1934, पृ 5
10 जे बी बी आर ए एस, 23, पृ 78
11 जे आर ए. एस बी (न्यू सी), 10, पृ 241-243

बाडले अभिलेख मे कहा गया है कि कौशिक गोत्रीय यशोराज के पुत्र अथवा पौत्र द्वारा अपने व्यापार से उपार्जित धन से एक बावडी का निर्माण करवाया गया था ।[1]

व्यापार

आलोच्यकाल मे राजस्थान के बडे नगर तथा राजधानिया प्राय: व्यापारिक केन्द्र भी थी । गुहिल शासक शीलादित्य के शासनकाल मे मेवाड एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था । साम्भोली अभिलेख से ज्ञात होता है कि यहा वटनगर से आए हुए महाजन व्यापार करने के लिए स्थायी रूप से बस गये ।[2] प्रतिहार शासक कक्कुक के शासनकाल मे रोहिंसकूप (घटियाला) पश्चिमी राजस्थान के व्यापार वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र था । घटियाला से प्राप्त वि. स 918 के अभिलेख मे कहा गया है कि इस नगर मे मरू, माण्ड, बल्ल, तमणी, अज्ज व गुर्जरत्रा के व्यापारी आकर बस गये थे ।[3] उनके लिए विशेष बाजार का प्रबन्ध किया गया था और तत्कालीन नरेश ने स्वय इस कार्य मे रुचि ली थी । सारणेश्वर प्रशस्ति से स्पष्ट है कि इस समय आहड एक सम्पन्न तथा प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था । यहा कर्नाटक, मध्यप्रदेश, लाट तथा टक्क जैसे सुदूर प्रदेशो के व्यापारी आकर स्थायी रूप से बस गये थे । यहा विभिन्न व्यावसायिक वर्गों के लोग यथा हलवाई, तेली, माली, फल विक्रेता इत्यादि रहते थे ।[4] वि स. 1136 के अथूर्णा अभिलेख के अनुसार परमार शासन काल मे अथूर्णा नगर वाणिज्य व्यवसाय का एक प्रमुख केन्द्र था ।[5] पटनारायण अभिलेख से ज्ञात होता है कि चद्रावती व्यापारिक केन्द्र के रूप मे विख्यात था ।[6] जूना के आदिनाथ मन्दिर अभिलेख से जूना का एक व्यापारिक केन्द्र होना प्रमाणित है ।[7]

हमारे अध्ययनकाल मे राजस्थान के व्यापारी व्यापार हेतु देश के विभिन्न भागों मे जाते थे तथा भारत के अन्य क्षेत्रो के व्यापारी राजस्थान मे आते थे । बाजारो मे गेहू, ज्वार, जौ, मू ग, गुड, कपास, नारियल, सुपारी, पान,

---

1. मरू भारती, 2, 3, पृ 2
2 ना. प्र. प., 1, पृ. 311-24
3. इ आई., 9, पृ. 277-79
4. बी. प्राई., 2, पृ. 67-68
5. इ. आई , 14, पृ. 297
6. आई. ए., 45, पृ. 77
7. नाहर, जै. ले. स., 1. पृ. 344

सूत, मजिष्ठ, किराना, नमक, घोडे इत्यादि व्यापारिक वस्तुओं का क्रय विक्रय होता था। हस्तिकुण्डी अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं मे सूती कपडे, ताम्बा, केसर, गेहू, जौ नमक इत्यादि थे जिनके क्रय विक्रय पर राज्य कर वसूल करता था।[1] वि स 1136 के अथूर्णा नगर अभिलेख से अथूर्णा नगर की उन्नतशील व्यापारिक स्थिति का आभास प्राप्त होता है। यहा दैनिक उपयोग की वस्तुओं का व्यापार होता था। उदाहरणार्थ खाद्यान, सूत, रुई, कपडा, नमक, शक्कर, गुड, नारियल, सुपारी व बर्तन, तेल इत्यादि।[2] मजिष्ठ बगाल से आयातित होकर अथूर्णा मे बिकता था।[3] वि स 1202 के नाडलाई से प्राप्त रायपाल के अभिलेख म किराना व्यापार का विवरण प्राप्त होता है।[4] घोडे का व्यापार भी समुन्नत स्थिति मे था। अश्व व्यापार की सूचना वि स 1200 के बाली से प्राप्त अभिलेख मे दी गई है।[5] इस अभिलेख मे प्रति घोडे के विक्रय पर एक द्रम्म देवी को, दो द्रम्म थमिल निवासी चोहडो के पुत्र गल्लल्यादिया को, एक द्रम्म मोहण के वाल्हण व गारवाट नामक पुत्रो को तथा एक द्रम्म बूटा को दानस्वरूप दिये जाने का उल्लेख है।[6] साहित्यिक स्रोतो से भी ज्ञात होता है कि घोडे विदेशो से मगाये जाते थे। 'उपमितिभवप्रपचकथा' मे बाह्लीकी और तुर्की घोडो को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[7] जब बख्तियार खलजी अपने 18 घुडसवारो सहित नदिया नगर मे प्रविष्ट हुआ तो नागरिको ने उसे घोडो का व्यापारी ही समझा था। इससे स्पष्ट है कि उस समय विदेशी व्यापारियों द्वारा भारत मे अश्व व्यापारार्थ आवागमन एक सामान्य बात थी।[8] 11वी व 12वी शती में अजमेर मे मुसलमान व्यापारियो के निवास का प्रमाण मिलता है।[9] इस युग म घोडे सैनिक अभियानो के लिए ही नही वरन् व्यापारिक प्रयोजनो के लिये भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गये थे।

व्यापारिक वस्तुओं के बेचने और खरीदने की व्यवस्था मण्डियो मे होती थी। तत्सम्बन्धी क्रय विक्रय की देखभाल स्वय व्यापारियों का मण्डल करता था।[10]

---

1. इ आई, 10, पृ 17-20
2 वही, 14, पृ 297
3 वही।
4 वही, 11, पृ 42
5 वही, पृ 32
6 वही
7 उपमितिभवप्रपचकथा, पृ 474
8 इलियट एण्ड डाउसन, 2, पृ. 308-9
9 इण्डियन कल्चर, पृ 1, 205, टाइटस, इण्डियन इस्लाम, पृ 43
10. इ आई, 14, पृ 295

प्राय शासक व्यापार की वृद्धि को ध्यान मे रखते हुए बाजारो और सडको का निर्माण कराते थे। वि स 918 के घटियाला अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रतिहार शासक क्कुक ने तीना वर्णों के रहने के लिए मकान और सडकों इत्यादि का निर्माण करवाया था। उसने तीनो वर्णों के लिए उद्योग धन्धो की व्यवस्था भी की थी।[1] मार्ग मे व्यापारियो तथा यात्रियो की सुविधा के लिये सडको के किनारे वृक्ष लगवाते तथा पानी के लिए कुए खुदवाए जाते थे। इस समय यद्यपि व्यापारिक वर्ग के रूप मे वैश्यो की प्रसिद्धि थी परन्तु अब उनके परम्परागत व्यवसाय कृषि और पशुपालन शनै शनै शूद्रो द्वारा भी अपनाये जा रह थे। इस विषय पर विस्तार से विचार 'सामाजिक जीवन' विषयक प्रकरण मे किया गया है।

वाणिज्य हेतु व्यापारी लोग यातायात के विविध साधनो का प्रयोग करते थे। सामान का स्थानान्तरण हाथियो, घोडो, ऊटो, बैंलगाडियो आदि के माध्यम से होता था। अपने राज्य की सीमा से गुजरने वाली व्यापारिक वस्तुओ पर शासको द्वारा मार्गों पर 'चुगी' वसूल की जाती थी। बयाना के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि शूरसेन राजवश की किसी महिला ने भगवान् विष्णु के मन्दिर के निमित्त एक गाव दान स्वरूप प्रदान किया था। उस मन्दिर की व्यवस्था हेतु उसके मार्ग से गुजरने वाले व्यापारिक माल से लदे प्रत्येक घोडे पर चुगी वसूल की जाती थी।[2] जोधपुर राज्यान्तर्गत एक मन्दिर को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि वह स्व क्षेत्र से गुजरने वाले ऐसे प्रत्येक कारवा से, जिसमे 10 से अधिक ऊट और 20 से अधिक बैल हो, एक एक पैला कर स्वरूप वसूल करे।[3] आहड के नरवाहन ने वराह मन्दिर के निर्वाह के लिए मार्ग से गुजरने वाले व्यापारिक वस्तुओ से लदे प्रत्येक हाथी पर एक द्रम्म, घोडे पर दो रूपक, सीग वाले जानवरो पर एक एक द्रम्म का चालीसवा भाग कर स्वरूप लेने की व्यवस्था की थी।[4]

खाद्यान्न तथा अन्यान्य पदार्थों के सग्रह के लिए भण्डार गृहो का निर्माण किया जाता था। इस प्रकार के अन्नागारो का उल्लेख कोटा जिले मे

---

1. वही, 9, पृ. 277-79
2. वही, 22, श्लोक 41
3 वही, 11, पक्तियां 4-7
4 बी भाई, 2, पृ 67-68

शेरगढ से प्राप्त वि स 1074 के अभिलेख मे हुआ है।[1] इस अभिलेख मे प्रयुक्त 'पल्लसाला' का अर्थ सम्भवत अन्न भण्डार गृह है।[2]

हमारे अध्ययनकाल मे वाणिज्य व्यवसाय प्रमुखतया स्थल मार्ग से होता था। व्यापार के हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए व्यापारिक सार्थवाह (काफिले) जाया करते थे। सामन्तसिंह के जूना से प्राप्त एक अभिलेख मे एक जैन मन्दिर को अनुदान स्वरूप यह अधिकार दिया गया था कि स्वक्षेत्र से आने जाने वाले ऐसे प्रत्येक सार्थवाह से, जिसमे 10 से अधिक ऊंट और 20 से अधिक बैल हो, एक पैला वसूल करें।[3] आवागमन-साधनो की समुचित व्यवस्था के अभाव मे यात्राए कष्टप्रद होती थी। शासको द्वारा जितनी तत्परता कराधान और कर वसूल करने मे दिखाई जाती थी उतनी यात्रियो और सार्थवाहो को सुरक्षा और सुविधा प्रदान करने मे नही दिखाई जाती थी। दस्युओ, लुटेरो और अपराधियो का भय प्राय बना रहता था। भील, मीना एव मेड इत्यादि अपराधकर्मी जन सहज व्यापार के मार्ग मे बाधक थे। 'वामनपुराण' से ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र जाते समय शाकल के वैश्यो को राजस्थान के रेगिस्तान म लूट लिया गया था। 'कुवलयमाला' के अनुसार सार्थवाह अपने साथ पर्याप्त सख्या में अस्त्र शस्त्रो से सुसज्जित सैनिको को ले जाते थे जो डाकुओ (दस्युओं) से उनकी और उनके माल की रक्षा करते थे। सामन्तो द्वारा भी सार्थवाहो के लूटे जाने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। चाहमानो की नाडोल शाखा के सस्थापक लक्ष्मण ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने से पूर्व व्यापारिक कारवाओ के घोडे तथा अन्य सामान लूटे थे।[4] सुलेमान सौदागर के अनुसार भारत का कोई भाग डाकुओं और लुटेरो से सुरक्षित नही था[5] कतिपय नरेशो ने इस असुविधा और अव्यवस्था को गम्भीरतापूर्वक लिया और व्यापारियो को सुरक्षा तथा सुविधा प्रदान करने के लिए प्रशासनिक उपाय किये। ग्राम स्तर पर 'मण्डलों' की व्यवस्था की गई। उदाहरणार्थ चाहमान रायपाल के शासनकाल मे घालोप ग्राम को आठ वार्डों (खण्डो) मे विभक्त कर प्रत्येक वार्ड से दो-दो मण्डलो के लिए ब्राह्मणो का चयन किया गया। इन प्रतिनिधियो के मण्डल का मध्यक पीपलवाडा से निर्वाचित देवाइच को नियुक्त

1. इ. आई, 23, पृ. 133
2 वही
3 वही, 11, पक्ति 4-7
4 अ. चौ डा, पृ 140
5 इलियट एण्ड डाउसन, पृ 1-4

किया गया । मण्डल के निर्णय के ग्रनुसार भाट, भट्ट पुत्र, दौवारिक, सार्वटिक वणिज्जारक ग्रादि द्वारा यदि कोई माल खो जाता था ग्रथवा उनसे कोई माल छीन लिया जाता था तो उसका पता उक्त मण्डल द्वारा लगाया जाता था ।[1] शान्ति ग्रौर सुरक्षा के लिये शासक भी थोडे बहुत तो प्रयत्नशील रहते ही थे । यथा प्रतिहार शासक कक्कुक के शासनकाल मे ग्राभीरो के उपद्रवो के परिणामस्वरूप रोहिंसकूप (घटियाला) उजडने लगा था । परन्तु कक्कुक ने उन्हे परास्त कर व्यवस्था स्थापित की ग्रौर वहा बाजार का प्रबन्ध किया । शांति तथा व्यवस्था स्थापित हो जाने से वहा पुन चारो ग्रोर से व्यापारियो का ग्राना प्रारम्भ हो गया ।[2]

यद्यपि साहित्यिक से सामुद्रिक मार्ग द्वारा व्यापार वाणिज्य के प्रमाण उपलब्ध होते हैं[3] तथापि ग्रभिलेखो मे इसकी चर्चा नही मिलती । जैन साहित्य मे जल मार्ग से व्यवसाय के विवरण प्राप्त होते हैं । इनमे समुद्र की लहरो की भयानकता एव जहाजो के टूटने ग्रादि का वर्णन किया गया है ।[4] 'समराइच्चकहा' के उल्लेखानुसार व्यापारी लोग विदेशो के लिये गमन करते समय ग्रपने इस निर्णय की उद्‌घोषणा ढोल पीट कर करते थे ग्रौर ग्रपने साथ चलने के लिए ग्रन्य व्यापारियो का ग्राह्वान करते थे । उनके साथ विभिन्न व्यापारी ग्रपनी वस्तुग्रो सहित प्रायः सम्मिलित हो जाते थे ।[5] साहित्य मे शूपरिक (सोपारा) एव ताम्रलिप्ति (तामलुक) बन्दरगाहो का उल्लेख है जहाँ से व्यापारी वाणिज्य-व्यवसाय के लिए स्वर्णद्वीप, बरबरकुल, चीन जावा ग्रादि की यात्राए करते थे । इसी प्रकार सामान से भरे जलयान ग्ररब देशो को भी जाते थे ।[6]

---

1. इ. ग्राई , 9, पृ. 159
2. वही, पृ. 277-280
3. शृ गारमञ्जरीकथा, पृ 28-29, तिलकमञ्जरी पृ. 103
4. द्र., कुवलयमालाकथा, पृ. 65-66 । इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि व्यापारीगण हाथियो के लिए कोसल, घोडो के लिए उत्तरापथ, [illegible] के लिए 'पूर्वदेश' सोपी के लिए द्वारका, हाथीदांत के लिए बब्बरकूल, सोने के लिए स्वर्ण द्वीप तथा नेत्रपट के लिए चीन आदि देशों की यात्राए करते थे । वे मोती के बदले [illegible], [illegible] के बदले हाथीदांत ग्रौर भैसो के सींग के बदले नेत्रपट [illegible] ।
5. समराइच्चकहा, पृ. 24 ग्रौर 476
6. इलियट एण्ड डाउसन, 2, पृ. 257

श्रेणियाँ

प्राचीन भारत में व्यापार-वाणिज्य और उद्योगों की वृद्धि के साथ श्रेणियों के स्वरूप में भी न्यूनाधिक परिवर्तन हुआ। व्यापारी वर्ग तथा उद्योगों में लगे हुए लोग अपने हितों की रक्षा के लिए श्रेणियों में संगठित होने लगे। श्रेणियों का प्रमुख उद्देश्य उद्योग और व्यवसाय को समुन्नत तथा समृद्ध बनाना था। इनके सुनिश्चित नियम होते थे जिनसे व्यावसायिक कार्यों का सुचारु रूप से सम्पादन हो सके। ये आधुनिक बैंकों का भी कार्य करती थी। लोग उनमें ब्याज कमाने के लिए धन जमा कराते थे।[1] श्रेणियां अपने निर्धारित नियमानुसार वस्तुओं का क्रय-विक्रय और धन का लेन देन करती थी। बड़े नगरों में विभिन्न व्यवसाय के लोगों के लिए पृथक् पृथक् बाजारों की व्यवस्था के प्रमाण प्राप्त होते हैं। 'कथाकोषप्रकरण' से ज्ञात होता है कि नगरों में पूतिकापण (मिठाई-बाजार), मद्यापण (शराब बाजार) और दोषिहट्ट (कपड़ा बाजार) पृथक् पृथक् हुआ करते थे।[2] सैनिक शिविरों में भी विभिन्न वस्तुओं के व्यापारी अपनी दुकानें अलग-अलग लगाते थे।[3] फूल, फल, सुगन्धित पदार्थों, रत्न, वस्त्र, अन्न, दाल, घी, तेल, दूध-दही इत्यादि के विक्रेताओं की अपनी अपनी दुकानें होती थी। बाहर से आने वाले व्यापारी क्रय विक्रय की सूचना अपने व्यवसाय से सम्बंधित श्रेणी को देते थे।[4]

पेहवा अभिलेख से ज्ञात होता है कि बाहर से आए व्यापारियों के एक 'देशी' ने वहां अनेक मन्दिरों के निमित्त दान दिया था।[5] लेख में प्रयुक्त 'नानादेशागत-घटाव व्यवहारक-देशी' की व्याख्या करते हुए दशरथ शर्मा ने 'देशी' शब्द का अर्थ 'श्रेणि' अथवा 'व्यापारियों की श्रेणि' माना है।[6] वि स 1200 के रायपाल के नाडलाई अभिलेख[7] और वि स 1030 के हर्ष अभिलेख[8] में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। नाडलाई अभिलेख में देशी (श्रेणि) में एकत्र वणजारकों ने दान देने की व्यवस्था की थी। हर्ष

1. मजूमदार, आर सी, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ 37
2. कथाकोषप्रकरण, पृ 87
3. वही, पृ. 165
4. कुवलयमाला, पृ 65-66
5. इ आई, 1, पृ 189
6. रा थ्रू ए, पृ 495-96
7. इ आई, 11, पृ 43
8. वही, 2, पृ 119

अभिलेख में श्रीम्मह के देशी ने (जिनकी पहिचान वणजारक व्यापारी वर्ग से की जा सकती है) नमक के प्रत्येक कूटक (ढेरी) पर एक विशोपक दान देने का निर्णय लिया था।

हमारे अध्ययनकाल के अन्य अभिलेखों से श्रेणि व्यवस्था के अस्तित्व का ज्ञान होता है। सियोडनी अभिलेख में कसारक (ठठेरा), कदुक (हलवाई), तम्बोलिक (तम्बोली), कल्लपाल (मद्य विक्रेता) और शिलाकूट (पत्थर काटने वाला) का उल्लेख हुआ है।[1] वे सम्भवत: श्रेणियों में सगठित थे और सघ-बद्ध सस्थाओं के रूप में दान देते थे। कामा अभिलेख में कुम्हारों, मालियों और शिल्पकारों की श्रेणियों का विवरण दिया गया है।[2] प्रत्येक श्रेणि के सदस्य एक ही व्यवसाय से सम्बन्धित होते थे। इन श्रेणियों ने कामयेकेश्वर के स्थानीय मन्दिर के निमित्त धन समर्पित किया था। एतदर्थ प्रत्येक कुम्हार ने प्रतिमाह एक पण देने की घोषणा की थी और मालियों की श्रेणि ने 60 मालाएं देने की। वि. स. 1084 के शेरगढ से प्राप्त एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि तेलियों की एक श्रेणि के धीयक नामक प्रमुख ने सोमनाथ मन्दिर को दान दिया था।[3]

अभिलेखों से श्रेणियों द्वारा किए जाने वाले जनकल्याण कार्यों की सूचना भी मिलती है।[4] वि. स. 1143 के झालरापाटन अभिलेख में तैलिक श्रेणि के जनक नामक प्रमुख द्वारा एक वापी निर्मित कराये जाने का उल्लेख है। उसने दीपक द्वारा प्रकाश की व्यवस्था के लिए चार पल तेल और प्रति वर्ष एक मोदक देने की घोषणा भी की थी।[5]

कतिपय अभिलेख श्रेणि सगठन पर प्रकाश डालते हैं। श्रेणियों का सचालन प्रमुख या मुखिया करते थे। ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है कि सर्वेश्वरपुर के तैलिकों के चार प्रमुख और श्रीवत्स स्वामिपुर के तैलिकों के दो

---

1. वही, 1, पृ 162-179
2. वही, 36, पृ 52
3. आई. ए., 40, पृ. 175
4. प्राचीनकाल में श्रेणियां अनेक जनकल्याण कार्य करती थी। 'बृहस्पति स्मृति' के अनुसार श्रेणियों के कार्य कलापों में जनोपयोगी बातें सम्मिलित होती थी। वे सभागृहों और यात्रियों के लिए विश्राम गृहों का निर्माण करवाती थी। इसी प्रकार श्रेणियां मन्दिर बनवाती, सरोवर खुदवाती तथा उद्यान लगवाती थी। वे निर्धनों और असहायों को शास्त्रों के अनुसार सस्कार और यज्ञ कार्य करने के लिए भी सहायता देती थी। (बृह , 17, 11, 12)
5. जे. आर. ए. एस. बो. (न्यू. सी.), 10, पृ 241-43

प्रमुख थे।[1] झालरापाटन अभिलेख मे तैलिक श्रेणि के प्रमुख जनक (तैलीपट्टिकिल) का उल्लेख हुआ है।[2] इसी प्रकार वि स. 1074 के शेरगढ (कोटा) से प्राप्त एक अभिलेख में तैलिकराज (तैलिक श्रेणि का प्रमुख) धीयक का उल्लेख हुआ है।[3] राजकीय अधिकारियो की सलाह से श्रेणि प्रधान अपनी श्रेणि के सदस्यो पर कर लगा सकता था और उसकी ओर से सौदा तथा लेन देन कर सकता था [4] 'स्मृतिचन्द्रिका' म समूह के मुखिया के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। उस समय ऐसा कोई नियम नही था जिसके अनुसार व्यापारी समूह (श्रेणि) के प्रधान के उच्छृखल हो जाने पर समूह के सदस्य उसे निष्कासित कर सकें। वस्तुत उसके स्वेच्छाचारी आचरण पर प्रतिबन्ध लगाना असम्भव था। ऐसी परिस्थिति मे राजा हस्तक्षेप करता था। वह मुखिया पर अर्थदण्ड लगा सकता था और उसकी सम्पत्ति भी छीन सकता था।[5] इससे स्पष्ट है कि केवल राजा को ही मुखिया को दण्डित करने का अधिकार प्राप्त था, समूह को नही। प्रत्येक श्रेणि का अपना एक भवन होता था जहां सभी सदस्य एकत्र होकर व्यापार सम्बन्धी विचार विमर्श कर सकते थे।[6]

नाप और तौल

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखो मे नाप तौल सम्बन्धी कुछ तथ्य उपलब्ध है। राजस्थान के विभिन्न भागो मे नाप और तौल के अनेक मानक और प्रणाली प्रचलित थी। नाप और तौल की समुचित व्यवस्था हेतु राजकर्मचारियो की नियुक्ति की जाती थी। अथूर्णा प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गुड, कपास, सूत यव (जव) मन्जिष्ठ, नारियल आदि की मापक गणना 'भरक' कहलाती थी। सुपारी का भाव सहस्र की गणना से होता था।[7] वि म 1053 के बीजापुर अभिलेख मे नाप और तौल के पल, कर्ष, आढक,

---

1 इ आई, 1, पृ 159 और आगे, 'बृहस्पतिस्मृति' के अनुसार प्रत्येक श्रेणि मे दो, तीन अथवा पाच प्रबन्ध अधिकारी होने चाहिये। उद्धृत, मजूमदार, रमेशचन्द्र प्राचीन भारत म सघठित जीवन, पृ 66-67

2 जे ए एस बी, 1914, पृ 241-43

3 इ आई, 23, पृ 138

4 शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ 132

5 स्मृतिचन्द्रिका, 3, पृ 50

6 पुरी, बी एन, हिस्टरी ऑफ गुर्जर प्रतिहार, पृ. 131, बृहस्पति स्मृति, 17/11

7 इ आई, 14, पृ 297

मानक, द्रोण और कलश जैसे विविध मानों का उल्लेख हुआ है।[1] मथनदेव के राजोरगढ़ अभिलेख में घी और तेल के प्रत्येक घटक-कूपक से दो पल्लिका राजकीय शुल्क वसूल किये जाने का उल्लेख है।[2] तासी अभिलेख मे रणादित्यदेव को दिये गये दान मे विभिन्न नाप और तौल का विवरण मिलता है। प्रस्तुत अभिलेख में दीपक व्यवस्था के लिये दो पल तेल, गुग्गुल फूलों की चालीस माला, आठ मासा कुमकुम और शराब की दो चतिकाये दिये जाने की व्यवस्था की गई है।[3] 9वी शताब्दी के मण्डोर से प्राप्त एक अभिलेख मे वहा के केशव मन्दिर को एक कर्ष तेल देने की व्यवस्था की गई है।[4] यही से प्राप्त 12वी शताब्दी के एक अभिलेख मे दान मे दी गई वस्तुओं मे एक पल कस्तूरी प्रदान करने का उल्लेख हुआ है।[5] चाहमान शासको के अभिलेखो मे किञ्चित भिन्न प्रकार के तौल मानो का उल्लेख मिलता है। रायपाल के नाडलाई अभिलेख के अनुसार प्रतिधाणक से दो पल्लिका तेल नाडलाई और बाहर से आये जैन सन्तो को प्रदान किये जाने के आदेश दिए गए हैं।[6] यही से प्राप्त एक अन्य अभिलेख मे राजदेव द्वारा महावीर चैत्य के साधुओ के निमित्त दिये गये दान का विवरण प्राप्त होता है। तदनुसार अभिनवपुत्र वदार्य्या और नाडलाई के बणजारे भरवाहक वृषभों पर लदे हुए प्रति 20 पाइलो पर लाग स्वरूप दो रुपये देते थे और धर्म के लिए प्रत्येक किराना के गाडे से एक रुपया।[7] लालराई अभिलेख से ज्ञात होता है कि भोवडा, आसधर तथा अन्य समस्त सोरवी किसानों ने श्री शान्तिनाथदेव के गूजरी यात्रा उत्सव निमित्त खाडिसोर नामक खेत से चार सेई यव प्रदान किया था।[8] सच्चिका माता के ओसिया स्थित मन्दिर की प्रशस्ति[9] मे व्यवस्था की गई है कि भोजक को पारिश्रमिक के रूप मे देवी के

1. वही, 10, पृ. 17-20
2. वही, 3, पृ 266
3. वही, 36, पृ. 49
4. ए. एस आई, 1909-10, पृ. 100
5. आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1909-10, पृ. 102-3
   चार कर्ष के बराबर एक पल होता था (इ आई., 45, पृ. 318) याज्ञवल्क्य स्मृति (1/364) में एक पल को चार या पाच सुवर्ण के बराबर माना है।
6. इ. आई, 11, पृ. 35
7. वही, पृ. 42
8. वही, पृ. 50
9. नाहर, पू. च., जै. ले. स., 1, पृ. 198

कोष्ठागार से प्रति दिन दो अजुल मूग[1] और एक कर्ष प्रदान किया जाय। उदयसिंहदेव के भीनमाल अभिलेख में दो सेई पक्के गेहूं, एक मान मूग, दो पायली चावल और 8 कलश घी इत्यादि का विवरण दिया गया है।[2]

हमारे अध्ययनकाल के कतिपय अभिलेखों में भूमि माप सम्बन्धी सूचनाएं प्राप्त होती है। भूमि दान देते समय दाता के द्वारा दान दिये गये क्षेत्र की सीमा बताना तथा उसके माप का स्पष्ट उल्लेख करना अत्यावश्यक होता था। विचाराधीन काल के अभिलेखों में भूमि माप का उल्लेख दो रूपों में मिलता है। प्रथम श्रेणी में क्षेत्र की लम्बाई चौडाई नापने के लिए हल', 'पादावर्त', 'निवर्तन', नल (अथवा नालक) प्रभृति साधनों की गणना की जा सकती है। द्वितीय श्रेणि में पैमाइश के उन साधनों का नामोल्लेख है जो बीज बोने के माप के लिए प्रयुक्त किए जाते थे, यथा पाटक, द्रोण, मणि, कुल्यवाप आदि।

वि स 1221 के साण्डेराव अभिलेख[3] में कहा गया है कि केल्हणदेव की माता ने राजा की व्यक्तिगत सम्पति में से प्रतिवर्ष मूलनायक महावीरदेव के चैत्रवदि 13 को होने वाले कल्याणिक उत्सव के निमित्त युगंधरी हाएल[4] प्रदान किया था। अश्वराज के वि स 1176 के सेवाडी अभिलेख में दान का उल्लेख करते हुए व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक पद्राडा, मेद्रचा, छेछडिया व मदड्डी ग्रामों के प्रत्येक रहट्ट से एक हारक यव प्रदान किया जाना चाहिये।[5] केल्हणदेव के वि स 1233 के लालराई से प्राप्त एक अभिलेख[6] में कीर्तिपाल के पुत्रों व उनकी रानी महिदेवी के द्वारा ग्राम पचा के समक्ष शान्तिनाथदेव की रथ यात्रा उत्सव के निमित्त भादियाउव ग्राम के उरहारि रहट्ट से एक हारक[7] यव प्रदान किये जाने का उल्लेख हुआ है।

---

1 कुवलयमाला (105/1) में भी अजुल का उल्लेख हुआ है।
2 इ आई, 11, पृ 56
3 वही, पृ 47
4 भण्डारकर के अनुसार इसका अर्थ एक दिन में जोती जाने वाली भूमि है। किन्तु इसका सही माप बताना सम्भव नहीं है क्योंकि विभिन्न कालों में विभिन्न प्रकार की भूमि जोती जाती थी। परन्तु वी वी मिराशी (कार्पस,4, भू पृ 170) के मतानुसार यह लगभग पान एकड भूमि के बराबर होता था।
5 इ आई 11, पृ 30
6. वही, पृ 181
7 हारक शब्द एक विशेष माप की टोकरी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

चौलुक्य भीमदेव के एक ताम्रपत्र मे ो हाएन को चार विशोपक के तुल्य बताया है।[1] सी डी दलाल विंशोपक की पहिचान बीघा से करते हैं।[2] गणितसार से ज्ञात होता है कि हाएल 483840 यव के बराबर अर्थात् 1/3 कोस से अधिक नही होता था।[3]

भोजदेव के वि स 1076 के दान शासन मे भोजदेव द्वारा बडौदा के ब्राह्मण भाइल को भूमि के 100 निवर्तन प्रदान किये जाने का उल्लेख हुआ है।[4] प्राणनाथ विद्यालकार के अनुसार निवर्तन सामान्यतया एक एक्ड के बराबर होना था।[5] डी सी सरकार ने इसका माप 240 × 240 वर्ग हस्त अर्थात् लगभग 3 एक्ड भूमि के बराबर माना है।[6]

वि स 894 के मू गथला अभिलेख से ज्ञात होता है कि सुभद्र नामक व्यक्ति ने मू गदेश्वर के शिव मन्दिर के निमित्त बन्जर और उपजाऊ भूमि के छ खण्ड दान स्वरूप दिये थे। इन भूखण्डो का कुल नाप सात 'द्रोण' था।[7] नाएा अभिलेख मे द्रोण और कुमारद्रोण का उल्लेख भूमि माप के मानक रूप म हुआ है।[8] वि स 1003 के प्रतापगढ अभिलेख म उतनी भूमि दान दिये जाने का वर्णन है जो दस माणि बीज स बोई जाती थी।[9] अनुमानत माणि (मन) को भी क्षेत्रमाप के लिए प्रयुक्त करत थे। सामान्यतया एक माणि (मन) बीज से एक बीघा खेत बोया जाता है। अत उक्त दान में दस मन बीज बोये जाने योग्य भूमि दान दी गयी थी। उक्त अभिलेख मे एक चरस से सिंचित होने वाल खत को कोशवाह कहा गया है।[10] अभिलेखो मे खेतो के नामकरण करने की प्रथा का भी सकेत मिलता है। प्रतापगढ से प्राप्त वि स 999 के अभिलेख मे बबूल वृक्ष के निकट स्थित खेत को बब्बूलिका कहा गया है।[11]

---

1 एच आई जी, 2, पृ 79
2 लेखपद्धति, पृ 106
3 जे. एन एस आई, 8, पृ 138
4 इ आई, 11, पृ 181-82
5 प्राणनाथ, ए स्टडी इन द इकानामिक कण्डीसन्स् ऑफ एन्शयेण्ट इण्डिया, पृ 83
6 सरकार, डी सी, सक्सेसस ऑफ द सातवाहनज, पृ 300
7 ज यू पी एच एस, 3, 1
8 इ आई, 33, पृ 238
9 वही, 14, पृ 182
10 वही।
11 वही, पृ 187

सिक्के

व्यवसाय वाणिज्य तथा उद्योग म विनिमय माध्यम के लिए सिक्का का प्रचलन आवश्यक है। पूर्वमध्यकालीन राजस्थान के विभिन्न भागो म भी सिक्को का प्रचलन था। विचाराधानकाल के अभिलेखो विशेषत दानशासनो मे पारुत्थ, द्रम्म, विशोपक, रूपक, नोहतिका नामक मुद्राओ का उल्लेख मिलता है।

पारुत्थ

पारुत्थ उस समय प्रचलित मुद्राओ मे से एक था। चित्तौड स प्राप्त वि स 1028 के एक अभिलख मे नरवर्मा द्वारा 'महावार जिनालय के लिए दो पारुत्थ दिये जाने का उल्लेख है। जिनपाल की 'खरतरगच्छ पट्टावली' मे इसका दो बार उल्लेख हुआ है।[1] लेखपद्धति से ज्ञात होता है कि चान्दी का यह सिक्का भीनमाल की टक्शाल म तैयार किया जाता था।[2] पुरातन-प्रबन्धसग्रह' के अनुसार पारुत्थ का मूल्य आठ साधारण द्रम्म के बराबर था।[3] दशरथ शर्मा के विचारानुसार यह मालवा, गुजरात, कोकण और राजस्थान के क्षेत्रो म चलने वाला सिक्का था।[4]

द्रम्म—अभिलेखो मे 'द्रम्म नामक सिक्के का उल्लेख बहुलता से हुआ है। यह यूनानी सिक्के के लिए प्रयुक्त ड्रेक्म् शब्द का अपभ्र श है। अभिलेखो म द्रम्म की कतिपय अन्य आख्याए यथा 'द्र[5], द्रा[6], 'दा[7] इत्यादि भी मिलती है। बी ज सेन्द्रससर के अनुसार यह सिक्का 5 रुपए मूल्य के बराबर होता था।[8]

मारवाड के गोठमङ्गलोद स्थान से प्राप्त गुप्त सवत् 289 (608 ई) के अभिलख[9] मे 'द्रम्म का उल्लेख हुआ है। सारणेश्वर प्रशस्ति[10] स ज्ञात

1 सोमानी, वीर भूमि चित्तौड, पृ 221
2 लेखपद्धति, पृ 34, 43 व 44
3. आई एच क्यू, 26, पृ 244 पाद टिप्पणी, 4
4 रा अ ए, पृ 498
5 इ आई, 11, पृ 47, 48, 58, इ आइ, 1916, पृ. 79,
नाहर, पू च, जैन ल स, 1, पृ 208, 232, 251,
नाहर, पू च, जै ले स, 2, पृ 163, बी जी, पृ 472
6 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 250, इ आई 11, पृ 59-61
7 वही, इ आई, 2, पृ 32-33
8 जे एन एस आई, 8, पृ 144
9 इ आई, 11, पृ 299
10 बी आई, 2, पृ 67-68

होता है कि गुहिल शासक अल्लट ने एक मन्दिर के निर्वाह के लिए उधर से गुजरने वाले व्यापारिक माल से लदे प्रत्येक हाथी पर एक द्रम्म तथा श्रृंगी पशुओं पर द्रम्म का चालीसवां भाग कर के रूप में लिये जाने की व्यवस्था की थी। शक्तिकुमार के आहड़ अभिलेख[1] में शक्तिकुमार द्वारा सूर्य मन्दिर के लिए प्रति वर्ष 14 द्रम्म दिये जाने का उल्लेख हुआ। वि सं 1030 के हर्ष अभिलेख[2], वि सं 1172 के सेवाड़ी अभिलेख[3] आल्हणदेव के वि. सं 1205 के ताम्रपत्र[4], वि सं 1228 के नाडलाई अभिलेख[5], वि सं 1305 के भीनमाल अभिलेख[6] और समसामयिक ग्रंथों में 'द्रम्म' का उल्लेख मिलता है। उक्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान में इस सिक्के का बहुत प्रचलन था।

द्रम्म अनेक रूपाकृतियों में प्रचलित था। शेरगढ के वि सं 1084 के एक अभिलेख में सक्रान्ति के अवसर पर ठाकुर देवस्वामी द्वारा प्रति माह दो वराह' दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[7] प्रतिहार प्रथम भोज ने आदिवराह' प्रकार के सिक्के प्रचलित किये थे। इसके अग्रभाग में भगवान् विष्णु के वराह अवतार की आकृति उत्कीर्ण है तथा पृष्ठ भाग पर मिहिर भोज की 'श्री मदादिवराह उपाधि अंकित है। ऐसे सिक्के बघेरा से प्राप्त हुए है।[8] वराह चांदी का लगभग 60 ग्रेन भार का सिक्का था।

कतिपय अभिलेखों में 'अजयदेव मुद्रा' का उल्लेख मिलता है। मेनाल से प्राप्त वि सं 1225 के एक अभिलेख[9] में माथुर कायस्थ ठाकुर विल्हण और उसके भाई धनश्वर द्वारा सुर्देश्वर मन्दिर को जो महाराज्ञी सुहवादेवी द्वारा निर्मित कराया गया था, परोली गांव से प्राप्त आय से बीस द्रम्म प्रति-वर्ष अजयदेव को प्रदान किये जाने का उल्लेख हुआ है। घोड से प्राप्त वि सं 1228 के एक अभिलेख[10] की सूचनानुसार विजय के पुत्र चाहड ने अपने पैतृक

---

1 इ आई, 39, पृ 191
2 वही, 2, पृ 119
3 वही, 11, पृ 30
4 अ चौ डा, पृ 205
5 इ आई, 11, पृ 48
6 बी जी, 1, पृ 476
7 इ आई 23, पृ 133-34
8 आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, 6, पृ 202
9 ए आर आर एम अजमेर, 1927-28, पृ 2
10 वही, 1922-23, पृ 2

मकान को सोलह 'अजयदेवमुद्रा' मे बेचा था। 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य म 'अजयप्रिय रूपक का उल्लेख मिलता है[1] जो सम्भवत 'अजयदेव' सिक्का ही है। इस मुद्रा प्रकार का प्रचलन चाहमान शासक अजयदेव ने किया था।[2] इसके अतिरिक्त अजयदेव की रानी सोमलादेवी न ताम्बे के सिक्के भी प्रचलित किये थे।[3]

वि स 1320 के एक जालौर अभिलेख[4] मे द्रम्मार्द्ध अर्थात आधा द्रम्म का उल्लेख हुआ है। सारगश्वर प्रशस्ति[5] म द्रम्मार्द्ध-विंशक अर्थात् द्रम्मार्द्ध का 1/20 वा भाग निर्देशित है। सियोडनी अभिलेख[6] मे द्रम्मत्रिभाग अर्थात् द्रम्म का 3/4 भाग और पचीयक द्रम्म की जानकारी दी गई है।

राजस्थान मे चांदी के रूपक नामक सिक्के भी प्रचलित थे।

रूपक

पृथ्वीराजविजय महाकाव्य मे विदित होता है कि जो द्रम्म अजयराज ने प्रचलित किये थे वे कालान्तर म रूपक कहलाये।[7] परन्तु सारगश्वर प्रशस्ति[8] मे दोनो का पृथक मुद्राओ के रूप मे उल्लेख है। तदनुसार अल्लट ने मन्दिर के निर्वाह हेतु उधर से जाने वाले प्रत्येक हाथी पर एक द्रम्म तथा घोडे पर दो रूपक कर लिये जाने को व्यवस्था की थी। रूपक का मूल्य द्रम्म से कम था। हस्तिकुण्डी से प्राप्त वि स 1053 के अभिलेख[9] से ज्ञात होता है कि एक ऊट की बिक्री पर एक रूपक कर लिया जाता था। नाडोल से प्राप्त वि स 1213 के अभिलेख म भी रूपक का उल्लेख हुआ है।[10] बी एन पुरी का मत है कि इसका मूल्य द्रम्म के 1/4 और 1/20 के बीच था।[11] श्रीधर के 'गणितसार' मे पाच रूपक का मूल्य एक द्रम्म के बराबर माना गया है।[12] इसलिये 13-5 ग्रेन भार के चादी के सिक्के सम्भवत रूपक माने जा सकते है।[13]

---

1 पृथ्वीराज विजय श्लोक 87-88
2 आई ए, 41, पृ 209
3 अ चौ दा, पृ 46
4 नाहर, पू च, जै ले स, 1, पृ 238
5 बी आई, 2, पृ 67-68
6 इ आई, 1, पृ 162-179
7 पृथ्वीराजविजय, 5, 88-89
8 बी आई, 2 पृ 67-58
9 इ आई, 10, पृ 20
10 ए आर आर एम अजमर, 1937 स 8
11 प्रतिहारज, पृ. 136
12 जे एन एस आई, 8, पृ 144
13 गोशल, लल्लनजी, द इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ 206

विशोपक

हमारे अध्ययनकाल मे राजस्थान मे विशोपक नामक मुद्रा का भी प्रचलन था। भीनमाल से प्राप्त वि. स. 1239 के अभिलेख के आधार पर इसका मूल्य द्रम्म से बहुत कम प्रमाणित होता है। इस अभिलेख के उल्लेखानुसार प्रत्येक द्रम्म पर एक 'वि' कर लिया जाता था।[1] डी. आर. भाण्डारकर के अनुसार इस ताम्र मुद्रा का मूल्य द्रम्म के बीसवें भाग के मूल्य के बराबर था।[2] ठक्कुर फेरु के 'गणितसार' मे बीस विशोपकों को एक द्रम्म के मूल्य के बराबर बताया गया है।[3] वी. वी. मिराशी के मतानुसार द्रम्म के बीसवें भाग होने के कारण ही इस मुद्रा को "विशोपक' कहा गया है।[4] मथनदेव के राजोर अभिलेख मे व्यापारिक वस्तुओ से भरे प्रत्येक बोरे पर तीन विशोपक कर के रूप मे लिये जाने का उल्लेख है।[5] नाडलाई से प्राप्त वि. स. 1200 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि रायपालदेव के शासनकाल मे राउत राजदेव ने रथयात्रोत्सव पर अपनी माता और धर्म के नाम पर प्रत्येक धाणक से एक विशोपक दिये जाने की व्यवस्था की थी।[6] कतिपय अभिलेखो मे 'द्रम्म' और 'विशोपक' दोनो का साथ साथ उल्लेख हुआ है। शाकम्भरी के व्यापारियो ने नमक के प्रत्येक कुटक (ढेरी) पर एक विशोपक तथा प्रत्येक घोड़े की बिक्री पर एक द्रम्म मन्दिर के निमित्त दिये जाने की घोषणा की थी।[7] नाणा से प्राप्त वि. स 1257 के एक अभिलेख मे गौड कायस्थ उदयसिंह द्वारा ब्राह्मणो की कपिल (गोशाला) मे 33 द्रम्म और 6 विशोपक दान स्वरूप दिये जाने का उल्लेख है।[8] वि. स. 1236 के अथूर्णा अभिलेख[9] मे वृष विशोपक का उल्लेख हुआ है। इसकी पहिचान वृष और शिव प्रकार के सिक्कों से की जाती है।

लोहतिका

आल्हणदेव के वि. स 1205 के एक ताम्रपत्र मे ,लोहतिका' नामक

1. बी. जी., 1, पृ. 47
2. इ. आई , 10, पृ. 19 पाद टिप्पणी, 3
3. अ चौ. डा,, पृ. 319
4. कॉर्पस, 4, पृ. 189, पाद टिप्पणी, 7
5. इ. आई , 3, पृ. 363
6. वही, 11, पृ 41
7. वही, 2, पृ. 121-22
8. पी. आर ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1907-08, प. 49
9. इ. आई., 14, पृ. 295

सिक्के का उल्लेख हुआ है ।[1] एक भीनमाल अभिलेख में प्रयुक्त शब्द 'लो' का तात्पर्य 'लोहतिका' ही प्रतीत होता है ।[2] श्रीधर के गणितसार के अनुसार चार लोहतिका का मूल्य एक रूपक के मूल्य के बराबर होता था ।[3] भाण्डारकर ने लोहतिका का मूल्य विशोपक के बराबर ही माना है । अत लोहतिका द्रम्म के बीसवें भाग के बराबर निश्चित होता है ।[4] सियाडनी अभिलेख में भी अर्द्ध द्रम्म को 10 'वि' अर्थात् 10 विशोपक के बराबर बताया है ।[5] साहित्य में भी लोहतिका' का उल्लेख मिलता है । एक उल्लेखानुसार यद्यपि 'नागड' ने जालौर पर आक्रमण किया था तथापि क्षतिपूर्ति के रूप में उसे एक 'लोहतिका' भी प्राप्त नहीं हुआ था ।[6] माण्डव्यपुर के वि स 1236 के एक अभिलेख[7] से ज्ञात होता है कि केल्हणदेव की रानी जाल्हणदेवी ने अपना भवन पार्श्वनाथ को भेंट दिया था और उसमें रहने वाले यो चार द्रम्म प्रति वर्ष प्रदान करने की आज्ञा जारी की थी ।

कर्पदक बोदी

शेरगढ से प्राप्त एक अभिलेख में कर्पदक बोदी का उल्लेख हुआ है ।[8] ए एस अल्तेकर ने बोदी का वास्तविक रूप बोदरी माना है । उनके अनुसार यह ताम्बे के पण का चौथाई भाग था । अतएव कपदक बोदी बीस कौडियो के बराबर था । लल्लनजी गोपाल के अनुसार 'बोदी' शब्द सिक्का नहीं वरन् द्रव्य के मूल्य का बोधक था ।[9] कर्पदक 'बोदी' का उपमग है । बोदी की गणना और इसका भुगतान कौडी विशेष के रूप में होता था । ऐसा प्रतीत होता है कि कोटा क्षेत्र में कौडियो का प्रचलन सिक्कों के रूप में था ।

कर्ष तथा पण

'कर्ष' एक प्राचीन नाप था । चरक इसे लगभग एक तोले के बराबर मानते हैं । उसके अनुसार चार कर्ष एक पल के बराबर होता था ।[10] 'मनुस्मृति' में एक कर्ष (80 रत्ती) तांबे के सिक्के को 'पण' कहा गया है ।[11]

1 अ चौ डा पृ 205
2 वी जी 1, स 8 और 16
3 जे एन एस आई, 8, पृ 138
4 का ले, पृ 208
5 इ आई, 1, पृ 162-179
6 पुरातनप्रबन्धसग्रह, पृ 50
7 नाहर, पू च, जै ले स 1, पृ 229
8 इ आई, 33, पृ 135
9 गोपाल, लल्लनजी, द इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ 213
10 अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत वर्ष, पृ 241
11 वही, पृ 241 पर उद्धृत

सम्भवत 'कुवलयमाला' के लेखक उद्योतनसूरि के समय कर्ष शब्द तौल एव मुद्रा दोनों के लिए प्रयुक्त होता था ।[1] इस तथ्य की पुष्टि तत्कालीन अभिलेखो से भी होती है । मण्डोर से प्राप्त नवी शती के एक अभिलेख मे स्थानीय केशव मन्दिर को एक कर्ष तेल देने का उल्लेख हुआ है ।[2] दूसरी तरफ हस्तिकुण्डी अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि जुआरियो तथा पान और तेल विक्रेताओ से एक कर्ष वसूल किया जाता था । स्पष्टतः यहा कर्ष नामक मुद्राओ को कर रूप मे प्राप्त किये जाने का उल्लेख है । ओसिया के वि स 1236 के एक अभिलेख मे भी देवी मन्दिर मे कार्यरत भोजक को पारिश्रमिक रूप प्रति दिन दो अन्जलि मू ग और एक कर्ष देने का वर्णन है ।[4]

भोजदेव के कामा अभिलेख मे 'पण' और द्रम्म दोनो का एक साथ उल्लेख हुआ है ।[5] पण एक ताम्रमुद्रा थी । 'द्रव्य परीक्षा' (लेखन काल 1327 ई) मे 16 पण को एक रजत द्रम्म के बराबर माना गया है । 'लीलावती' म बीस वराटक (कौडी) को एक काकिणी और चार काकिणी को एक पण के बराबर माना है । 'गणितसार' म इसका समर्थन किया गया है ।

कौडी

राजस्थान के अभिलेखो मे कौडी का उल्लेख नही मिलता । सम्भवत यहा इसका प्रचलन व्यापक रूप से नही था । किन्तु साहित्य मे विनिमय माध्यम के रूप म कौडी का उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रसग मे 'गणितसार' की निम्न तालिका उल्लेखनीय है —

5 कौडी = 1 पाविसा

4 पाविसा = 1 बिसा

5 बिसा = 1 लोहतिका

4 लोहतिका = 1 रूपा (रुपक)

5 रूपा = 1 द्रम्म

---

1 जैन, प्रेम सुमन, कुवलयमालाकहा का सास्कृतिक अध्ययन, 1975, पृ 197

2 ए एस आई , 1909-10, पृ 100

3 इ आई , 10, पृ 17-20

4 नाहर, पू च , जै ले स , 1, पृ 198

5 इ आई , 24, पृ 141

इसी प्रकार 'द्रव्य परीक्षा'[1] म निम्नलिखित तालिका दी गई है —

20 कौडी = 1 ताम्र काकिणी
4 काकिणी = 1 ताम्र पण
16 पण = 1 रजत मुद्रा (द्रम्म)

उक्त विवरण से आभासित है कि कौडी का व्यवहार दैनिक जीवन मे अवश्य होता था।

ब्याज की दर

पूर्वकालीन पद्धति के अनुसार हमारे अध्ययनकाल मे भी व्यापारी लोग ब्याज पर ऋण लिया दिया करते थ। ब्याज मुद्रा तथा वस्तु दोनो रूप मे लिया जाता था। अलबरुनी ने ब्याज की दर दो प्रतिशत प्रति माह बतायी है।[2] 'लेख पद्धति' से इसका समर्थन होता है।[3] यदा कदा ब्याज से प्राप्त धन का उपयोग मन्दिरो के निर्माण और सम्बन्धित धार्मिक कार्यों मे किया जाता था। भीनमाल से प्राप्त वि स 1262 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि जगतस्वामी मन्दिर के कोष्ठागार को 40 द्रम्म पर 12 द्रम्म वार्षिक ब्याज के रूप मे मिलते थे। इस से ब्याज की दर 30 प्रतिशत वार्षिक ज्ञात होती है।[4] भीनमाल के वि स 1306 के एक अन्य अभिलेख[5] से ज्ञात होता है कि 40 द्रम्म पर वार्षिक ब्याज के रूप मे निम्नलिखित वस्तुए प्राप्त होती थी —

गेहूँ — 2 सेई
मूग — 1 मण
चोखा (चावल) — 2 पायली
घी — $8\frac{1}{2}$ कलश
पूजा की सामग्री — 7 द्रम्म मूल्य की

इस अभिलेख मे अन्यत्र 15 द्रम्म पर वार्षिक ब्याज के रूप मे निम्नलिखित वस्तुयें प्राप्त होने का उल्लेख है[6] —

गेहूँ—25 पायली
मूग—3 पायली

---

1 जे एन. एस आई., 8, पृ 138
2. सचाऊ, अलबरुनीज इण्डिया, 2, पृ. 150
3. लेखपद्धति, पृ. 33-34
4 बी. जी , 1, पृ 474
5 इ. आई., 11, पृ. 56
6. वही।

चोखा (चावल)—2 पायली
पूजा की सामग्री—2 द्रम्म की कीमत की ।

उपयु क्त सारणी के आधार पर दशरथ शर्मा ने उस समय ब्याज को दर 33⅓ प्रतिशत तक मानी है ।[1] वि स 1323 के जालौर अभिलेख मे 50 द्रम्म पर 1/2 द्रम्म प्रतिमाह ब्याज के रूप लेने का उल्लेख हुआ हैं ।[2] इससे ब्याज की दर केवल 12 प्रतिशत वार्षिक निश्चित होती है । सोनगरो की राजधानी होने के कारण जालौर म पू जी की बाहुल्यता रही होगी । यहा राजनीतिक स्थिरता होना भी ब्याज की दर म गिरावट का एक कारण हो सकता है । उधर भीनमाल मे दान प्रवृति को प्रोत्साहित करने के लिए हो सकता है ब्याज दर ऊची रखी गयी हो । जालौर की ब्याज दर अपवाद भी मानी जा सकती है । परन्तु राजस्थान मे अ यत्र सामान्यतया ब्याज की ऊची दर का ही प्रचलन था । प्रमाणास्वरूप आबू से प्राप्त गु डोच के वि. स 1288 के भाइल अभिलेख[3] तथा अरासण जैन अभिलेख[4] का उल्लेख किया जा सकता है जिनमे 30 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर का उल्लेख है । ये अभिलेख हमारे अध्ययनकाल की सीमा से बाद के हैं पर तत्कालीन ब्याज दर के विषय मे सामान्य सूचना अवश्य प्रदान करते है ।

सिक्को, माप तोल और ब्याज की दर से उस समय की वस्तुओ के मूल्य का अनुमान लगाया जा सकता है । वि स 1228 के धौड अभिलेख से विदित होता है कि 16 द्रम्म से एक मकान खरीदा जा सकता था ।[5] भीनमाल के वि स 1306 के एक अभिलेख[6] से ज्ञात होता है कि एक द्रम्म म 8⅓ पाइली गेहूँ, 1 पाइली मू ग, 2/3 पाइली चावल और 2/3 कलश घी खरीदा जा सकता था । इसी प्रकार साण्डेराव अभिलेख[7] से ज्ञात होता है कि 1 द्रम्म म 1 हाएल यु गधारी जवार खरीदी जा सकती थी तथा 1/2 द्रम्म से श्री महावीर देव का वार्षिक उत्सव मनाया जा सकता था । स्पष्टत उस समय वस्तुओ की कीमतें बहुत कम थी ।

---

1 अ चौ डा , पृ 336-37
2 नाहर, पू ष , जै ले स , I पृ 240
3 इस अभिलेख मे 16 द्रम्म पर 8 विंशोपक प्रति माह ब्याज की दर का उल्लेख है । इसके अनुसार एक वर्ष मे 96 विंशोपक ब्याज के रूप म प्राप्त होते थे । यदि एक विंशोपक द्रम्म का बीसवा भाग था तब ब्याज की दर 30 प्रतिशत निश्चित होती है ।
4 इस अभिलेख मे 120 द्रम्म पर 3 द्रम्म प्रति माह ब्याज देने का उल्लेख है । इसके अनुसार भी ब्याज दर 30 प्रतिशत प्रति वर्ष होती हैं ।
5 ए आर आर एम , अजमर, 1922-23, पृ 2
6 इ आई , 11, पृ 56
7 वही, पृ 47

सामन्तवाद

भारत में सामन्तवाद उदय, प्रकृति और परिवर्तनशील रूप

मार्क्स ने मानव इतिहास को चार भागो मे विभाजित किया था और उनमे दूसरे युग को 'सामन्तवादी युग' की सज्ञा प्रदान की थी। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इस युग-विभाजन से प्रभावित होकर अनेक इतिहासकारो ने एशिया और यूरोप मे सामन्तवाद की उत्पत्ति और विकास का निरूपण किया। भारत मे भी डी डी, कोशाम्बी,[1] आर एस शर्मा[2] इत्यादि ने सामन्तवाद के इतिहास को निरूपित करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। आर एस शर्मा ने आठवीं से बारहवी शताब्दी के युग को सामन्तवाद के चरमोत्कर्ष का काल माना हैं। लेकिन डी सी सरकार[3] जैसे बहुत से *विद्वान भारत मे सामन्तवाद का अस्तित्व उस अर्थ मे मानने के लिये प्रस्तुत* नही है जिस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग यूरोपीय सन्दर्भ म होता है। डी सी सरकार के अनुसार जिस प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय व्यवस्था को इतिहासकार सामन्तवाद कह देते हैं वह वास्तव मे जमीदारी व्यवस्था थी। भारत मे राजा को स्थायी रूप से बसे हुए किसानो की भूमि का निरकुश स्वामी कभी नही माना गया। भारत के अधिकाश दानपत्र ब्राह्मणो, मन्दिरो और विहारो को भूमिदान दिये जाने से सम्बन्धित हैं और ये वर्ग उन सेवाओ को पूरा करने म असमर्थ थे जो सामन्तवादी व्यवस्था का अभिन्न अ ग मानी जाती हैं। उलटे दानपत्रो मे इस बात को बार-बार दोहराया गया है कि दान ग्राहक को विष्टि व अन्य सेवाओ से न्यूनाधिकरूप से मुक्त किया जाता है। डी सी सरकार के अनुसार वास्तव मे दक्षिण भारत की 'अमर' नामक व्यवस्था को छोड कर भारत मे सामन्तवादी व्यवस्था कही भी नही मिलती।[4] लेकिन आर एस शर्मा इत्यादि का कहना है कि यह आवश्यक नही है कि हम भारत मे सामन्तवाद के ठीक उसी रूप को खोजने की चेष्टा करें जो अन्य देशो म मिलती है। सामन्तवाद की जो विशेषताए यूरोप मे मिलती है वे न प्राचीन 'सामन्तवादी' मिस्र म थी और न चीन मे। 'सामन्तयुगीन' भारतीय सामन्तवादी व्यवस्था का अपना

---

1 कोशाम्बी, डी डी, द कल्चर एण्ड सिविलिजेशन ऑफ एन्श्येण्ट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउट लाइन, अध्याय 7

2 शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद

3 सरकार, डी सी, लैण्डलोर्डिजम एण्ड टिनेन्सी इन एन्श्येण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया एज रिवील्ड बाई एपीग्राफिकल रिकार्ड्स, पृ 32 अ

4 वही, पृ 33

विशिष्ट रूप था जिसके कुछ तत्व यूरोपीय सामन्तवाद से सादृश्य रखते है, कुछ उससे भिन्न हैं और कुछ पूर्णतया स्थानीय परिस्थितियो का परिणाम थे। अगर हम यह आग्रह स्वीकार कर लेते हैं तब भारत मे भी सामन्तवाद का अस्तित्व मानने म कोई बाधा नहीं आयेगी।

भारतीय सदर्भ मे अग्रेजो के 'फयूडलिज्म' शब्द के लिये 'सामतवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेकिन इस शब्द के अर्थ समय के साथ बदलते रहे हैं। जैसा कि लल्लनजी गोपाल ने अपने एक सुप्रचित शोध-निबन्ध मे दिखाया है।[1] इस शब्द का अलग-अलग युगो मे अलग-अलग आशय था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' व जातक कथाओ म इस शब्द का अर्थ स्वतत्र पडोसी नरेश है।[2] 'मनुस्मृति[3] व 'याज्ञवल्क्य स्मृति'[4] म इस शब्द *का प्रयोग उन महत्वपूर्ण व्यक्तियो के लिये किया गया है जो ग्राम सीमा* विषयक विवादो को सुलभाने मे सहायता देते थे। 'रघुवश' मे इस शब्द का प्रयोग उन पडोसी राज्यो के लिये हुआ है जो स्वामी नरेश द्वारा अपने अधीन कर लिये जाते थे।[5] आभिलेखिक दृष्टि से इस शब्द का प्रयोग गुप्त काल से मिलना प्रारम्भ होता है। गुप्तवश के अभिलेखो मे इस शब्द का महासामन्त रूप मे प्रयोग सर्वप्रथम वैन्यगुप्त के गुणैधर अभिलेख मे हुआ है।[6] परन्तु जैसा कि हम अभी देखेंगे, सामन्तवाद का उदय इसके पूर्व ही हो चुका था। दक्षिण भारत मे इसका प्रयोग इसके कुछ पहले 'सामन्त चूडामणय' रूप मे शान्तिवर्मा कालीन (455-70 ई) एक पल्लव अभिलेख मे हुआ हैं।[7] उत्तर भारत के छठी शताब्दी ईसवी के अभिलेखो मे इस शब्द का प्रयोग धीरे-धीरे बढता जाता है। अनन्तवर्मा मौखरि के तिथि विहीन बराबर अभिलेख मे[8] और यशोधर्मा के मन्दसौर अभिलेख[9] तथा अन्य अनेक अभिलेखो मे इसका उल्लेख मिलता हैं। इन अभिलेखो मे यह शब्द किसी स्वामी-राजा के अधीन शासन करने वाले शासको के लिये प्रयोग मे आया है। इसका यही अर्थ बाद मे रूढ हुआ।

1 गोपाल, लल्लनजी, सामन्तः इट्स वेराइग सिग्नीफिकेन्स इन एन्शयेण्ट इण्डिया, जे आर ए एस, 1-2
2 अर्थशास्त्र, 1-6
3 मनुस्मृति 8-258
4 याज्ञ 2-153
5 रघुवंश 5-28
6 सरकार, स इ, पृ 343
7 पाण्डेय, रा ब, हिस्टोरिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स् स 29
8 फलीट, कार्पस, 3, स 49
9 सरकार, स इ, पृ 419

सामन्तवाद शब्द के साथ जिस राजनीतिक व्यवस्था का सम्बन्ध माना जाता है उसके तत्व यत्र प्राक्गुप्तयुगीन अभिलेखो मे मिलता हैं।[1] परन्तु उसका अभिलेखो मे सर्वप्रथम स्पष्ट परिचय समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे मिलता है।[2] प्रयाग प्रशस्ति मे स्वय 'सामन्त' शब्द अप्रयुक्त है परन्तु इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त का साम्राज्य सामन्तवादी व्यवस्था पर एक सघ राज्य था जिसमे एक महाराजाधिराज के अधीन अनेक महाराज और महाराजाओं के अधीन अनेक राजा होते थे। अधीन राजा सम्राट को सर्वकरदान, आज्ञाकरण, प्रणामागमन, आत्मनिवेदन (जो प्रणाम आगमन जैसी ही प्रथा थी), कन्योपायनदान स्वविपय भुक्ति शासन याचन इत्यादि नीतियो के द्वारा प्रसन्न करते थे।[3] एस आर गोयल ने सिद्ध किया है कि स्वय समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य मे अपने अधीन अनेक राजवशो को स्थापित किया था।[4] उसके बाद अधीन राजाओ की सख्या धीरे-धीरे बढती गयी।[5] स्कन्दगुप्त के कहौम अभिलेख मे कहा गया है कि उसके सभामण्डप म सैकडो राजा उपस्थित होकर सर झुकाते थे।[6] इन राजाओ के अधीन उनसे छोटे राजा होते थे। स्कन्दगुप्त के इन्दौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके काल मे अन्तर्वेदी का शासन 'विपयपति शर्वनाग देखता था।[7] यह स्थिति बुधगुप्त (लगभग 476-95 ई) मे बदल गई उसके शासनकाल के एरण-अभिलेख[8] म कहा गया है कि यमुना व नमदा के मध्य शासन करने वाल महाराज सुरश्मिचन्द्र के अधीन एरण प्रदेश पर महाराज मातृविष्णु शासन करता था। गुप्तो के ह्रासकाल में इस व्यवस्था के सबलतर हो जाने के अनेक

---

1 बी एन एस यादव (सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, पृ 136) ने भारत मे सामन्तवाद का अकुरण शक-कुषाण युग मे माना है। बुद्ध प्रकाश (आस्पेक्टस आन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर) सामन्तवाद का उदय गुप्तकाल मे श्रेष्ठी वग के ऊपर भूमिधर कुलीन परिवारा की विजय मे मानते हैं।

2 सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ 263 अ

3 इन नीतियो के विस्तृत विवेचन के लिये द्र, एस आर गोयल, ए हिस्टरी ऑफ दि इम्पीरियल गुप्तज, पृ 128 अ

4 गोयल, वही, पृ 155 अ

5 वही, पृ 295-7

6 सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रपशन्स् पृ 316

7 वही, पृ 319

8 वही, पृ 335

कारण थे। एक, अनेक प्रांतीय शासक जिनका कार्यकाल सम्भवत सम्राट की कृपा पर निर्भर करता था, सम्राटो के दुर्बल हो जाने पर 'महाराज' उपाधिधारी बन गये और उनके पद आनुवंशिक माने जाने लगे। स्वय सम्राट् भी उनको प्रसन्न करके अपनी स्थिति सुरक्षित करना चाहते थे। एक मैत्रक अभिलेख म कहा गया है कि इस वश के तीसरे सदस्य ध्रुवसेन को अखिल भूमण्डल के स्वामी ने स्वय आकर 'महाराज' पद पर अभिषिक्त किया था।[1] दूसरे, गुप्तकाल मे ब्राह्मणो को जागीरें देने की प्रथा धीरे-धीरे बढती गयी। इसके परिणाम स्वरूप ऐसे ब्राह्मण जिनके पास काफी बडी जागीर हो जाती थी धीरे धीरे छोटे-मोटे राजा बन बैठते थे। डा गोयल ने ध्यान दिलाया है कि मध्यप्रदेश के परिव्राजक और एरण के 'विष्णु' वश के आदिपुरुष इसी प्रकार के वेदपाठी और मूलत अपने जातीय कर्म मे रत ब्राह्मण थे, परन्तु उनके उत्तराधिकारी धीरे-धीरे राजा बन बैठे।[2]

गुप्त साम्राज्य की अवनति व मौखरियो के शासनकाल मे सामन्तवादी व्यवस्था का जो रूप विकसित हुआ उसका परिमार्जित रूप बाण के 'हर्ष-चरित' व 'कादम्बरी' मे मिलता है। इन ग्र थो मे सामन्तवाद का वर्णन इस दृष्टि से प्रयाग-प्रशस्ति मे वर्णित सामन्ती व्यवस्था की टीका जैसा लगता है। विशेषरूप से 'हर्षचरित' मे बाण ने सामन्तो के अनेक प्रकारो (जैसे सामन्त, महासामन्त, आप्तसामन्त, प्रधान सामन्त, शत्रु सामन्त, प्रतिसामन्त) और सम्राट् के साथ उनके सम्बन्ध का विवरण दिया है।[3] वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन' नामक ग्रथ में हर्षचरित के इस पक्ष की रोचक मीमासा की है।[4]

उपर्युक्त पृष्ठ भूमि मे हमे हर्षोत्तर युगीन राजस्थान के अभिलेखो मे सामन्तवाद के विषय मे प्रदत्त तथ्यो का अध्ययन करना है। अभाग्यवश इस क्षेत्र म बहुत कम काम किया गया है। दिनेशचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ 'अर्ली हिस्टरी ऑफ राजस्थान' मे इस प्रदेश का प्राचीन इतिहास अधिकारिक रूप से लिखा है।[5] परन्तु अभाग्यवश उनका ग्रन्थ उस युग के पूर्व समाप्त हो जाता है जब राजस्थान मे सामन्तवाद का उदय और विकास हुआ। गोपीनाथ शर्मा ने इस विषय मे कुछ महत्वपूर्ण और श्लाघनीय कार्य किया है[6]

1. गोयल, पूर्वो, पृ 357
2. वही, पृ 299-300
3. हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास
4. अग्रवाल, हर्षचरितः एक सास्कृतिक अध्ययन परिशिष्ट 2
5. शुक्ल, डी सी, अर्ली हिस्टरी ऑफ राजस्थान, दिल्ली
6. शर्मा, जी.एन, दी आर एच सी., 1970, पृ 40

और आर एस शर्मा ने भारत मे सामन्तवाद के विकास के अध्ययन के अन्तर्गत राजस्थान में भी सामन्तवादी प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है।[1] लेकिन इन्होंने तथा सामन्तवाद पर कार्य करने वाले अन्य विद्वानो मे से किसी ने भी अपना ध्यान विशेषत पूर्व मध्य कालीन राजस्थान मे सामतवाद के विकास को स्पष्ट करने में नही लगाया है। नीचे हम राजस्थान में सामन्तवाद के विकास की प्रवृत्तियों की मीमांसा करने का कुछ प्रयास करेंगे।

प्रतिहार साम्राज्य मे सामन्तवाद का विकास

हर्षोत्तर युग मे उत्तर भारत मे जिस राजवश ने विशेष रूप से साम्राज्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त की, वह प्रतिहार वश है। प्रतिहारो का उदय एक मत के अनुसार मालवा म हुआ[2] और दूसरे मत के अनुसार राजस्थान मे।[3] इनमें से जो भी मत सही हो, इसमे सन्देह नही किया जा सकता कि प्रतिहारो की शक्ति का मुख्य स्रोत राजस्थान था यद्यपि उनकी राजधानी कन्नौज नगर बना। प्रतिहारो के शासन काल मे सामन्तवादी व्यवस्था को बहुत प्रश्रय और बल मिला।

प्रतिहारो के अभिलेखो मे सामन्तवादी व्यवस्था के विषय मे आरम्भ से ही महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होने लगती है। उन्होने उत्तर भारत मे ब्राह्मणो को बहुत से ग्राम दिये जिसमे इस वर्ग की शक्ति बढी। 836 ई मे प्रथम भोजदेव ने कान्यकुब्ज भुक्ति के कालिंजर मण्डल म एक पुराने अग्रहार को फिर से दान दिया।[4] यह दान पहले द्वितीय नागभट की अनुमति से दिया गया था लेकिन रामभद्र के शासनकाल मे इसका नियान्वयन बन्द हो गया था। इसी प्रकार भोज ने गुर्जरत्रा भूमि मे अपने प्रपितामह द्वारा प्रदत्त एक अग्रहार के अनुदान को जो किसी कारणवश प्रभावी नही रह गया था, पुन जारी किया।[5] इससे स्पष्ट है कि इस समय तक अग्रहारो के अनुदान आनुवांशिक हो गये थे। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्रतिहार अनुदान पत्रो मे दानग्राहकों को केवल अनुदत्त गावो से होने वाली आय ही सौंपी गई थी, उनको प्रशासन सम्बन्धी अधिकार कम से कम स्पष्ट रूपेण नही दिये गये थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिहारा के सामन्तो के राज्यो में भी यह

---

1 शर्मा, आर एस , भारतीय सामन्तवाद
2 मजुमदार, आर सी , एज ऑफ एम्पीरियल कन्नौज, पृ 19
3 शर्मा, दशरथ, रा अ ए , पृ 472 अ
4 शर्मा, आर एस , भारतीय सामन्तवाद, पृ 82 पर उद्धृत
5 इ आई., 5, पृ 208 अ

प्रक्रिया चल रही थी। वि. सं. 1016 मे ग्रलवर मे प्रतिहारो के एक गुर्जर सामन्त ने एक मठ के गुरु ग्रौर उसकी शिष्य-परम्परा के लिये एक गांव दान दिया था।[1] रामशरण शर्मा ने प्रतिहारो के राजस्थान से ऐसे ग्रनेक उदाहरण उद्धृत किये है[2]। इन उदाहरणो से प्रकट होता है कि धार्मिक ग्रनुदान देने की प्रथा प्रतिहार राजाग्रो द्वारा प्रत्यक्षरूप से शासित क्षेत्रो मे जितनी सबल थी उतनी ही उनके ग्रधीनस्थ सामन्त राजाग्रो के क्षेत्रो मे भी थी। इसमे दान ग्राहकों को न केवल गावो मे कानून ग्रौर व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व सौंपा जाता था, ग्रपितु विभिन्न करो की वसूली का ग्रधिकार भी प्रदान किया जाता था। इसके लिए दान ग्राहको को कुछ कर्मचारी नियुक्त करने पडते होगे। निष्कर्षत: राजस्थान के कुछ क्षेत्रो मे धार्मिक ग्रनुदान ग्राहको का एक ऐसा मध्यस्थ भूमिधर वर्ग उत्पन्न हो गया जिसे ग्रांतरिक शांति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने ग्रौर राजस्व वसूल करने से सम्बन्धित व्यापक ग्रधिकार प्राप्त थे।

प्रतिहारो के ग्रभिलेखो मे धर्मेतर ग्रनुदानो के ग्रधिक उदाहरण नही मिलते। उनके एक गुर्जर सामन्त द्वारा दिये गये ग्रनुदान से पता चलता है कि उसे धर्मेतर ग्रनुदान मिला हुग्रा था क्योकि उसने ग्रपने क्षेत्र को 'स्वभोगावास वंशपोतक भोग' कहा है।[3] स्पष्ट है कि साम्राज्यिक परिवार का सदस्य होने के नाते[4] उसके प्रतिहार स्वामी ने उसके व्यक्तिगत उपभोग के लिए यह वंशपोतक क्षेत्र दे रखा था। उसको दिये गये दानपत्र मे यह भी स्पष्ट है कि उसे ग्रपने क्षेत्र के प्रशासन का भी दायित्व दे दिया गया था।[5]

प्रतिहारो की शासन प्रणाली मे उपसामन्तीकरण की व्यवस्था थी। उनके साम्राज्य मे ग्रपसामन्तीकरण के कई उदाहरण प्राप्त है। वत्सराज के शासनकाल मे एक दाता ने गुर्जरत्रा भूमि मे ग्रनुदान मे प्राप्त ग्रपनी भूमि का छठा हिस्सा भट्ट विष्णु नामक ब्राह्मण को दान कर दिया था।[6] जहाँ तक सामन्त राजाग्रो का सम्बन्ध है, उनमे कुछ सम्राट की ग्रनुमति से ग्रनुदान देते थे ग्रौर कुछ ग्रनुमति लिये बिना। वि. स. 1016 (959ई.) मे ग्रलवर क्षेत्र मे सामत मथनदेव ने किसी की ग्रनुमति लिये बिना ग्रपनी जागीर से एक गाव

1. इ. ग्राई., 3, पृ 266
2. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 80–81
3. इ. ग्राई., 3, पृ. 266
4. वही।
5. वही, पृ. 266–67
6. वही, 5, पृ. 208

एक मठ के गुरु और उसके शिष्य-प्रशिष्यो को दे दिया था।[1] इस अनुदान मे दानग्राही को भूमि प्रबन्ध के अधिकार का उल्लेख करते समय 'कुर्वंत: कारयतोवा'[2] वाक्याश का प्रयोग है। इसका अर्थ है कि उक्त भूमि पर उसका निर्बाध स्वामित्व उपसामन्तीकरण करने के अधिकार सहित हो गया था और वह राजस्व वसूल करने अथवा खेती कराने का उत्तरदायित्व किसी को भी सौंप सकता था।

अब इससे भिन्न प्रकार के एक अनुदान का उदाहरण लें। प्रतिहार साम्राज्य के एक उच्चापदाधिकारी माधव ने, जो उज्जैन का शासक था, चाहमान सामन्त इन्द्रराज के कहने पर इन्द्रराज द्वारा निर्मित एक मन्दिर को अनुदान दिया।[3] इस अनुदान पत्र पर माधव ने विदग्ध नामक एक अन्य पदाधिकारी के साथ हस्ताक्षर किये थे।[4] इससे स्पष्ट है कि प्रतिहार साम्राज्य मे प्रातीय शासक भी राजकीय अनुमति के बिना अनुदान नही दे सकते थे।

गुप्त सम्राटों के समान प्रतिहार शासको के विरुदो से भी सामन्तवादी सम्बन्धो का पता चलता है। परवर्ती गुप्त राजाओ और प्रतिहार शासको ने 'परमभट्टारक', 'परमेश्वर' और 'महाराजाधिराज' आदि उपाधियां धारण की किन्तु ये उनकी सत्ता मे वृद्धि की द्योतक नही है।[5] इनसे मात्र यह सिद्ध होता है कि वे अपेक्षया लघुतर शासको-महाराजाओ के 'अधिराज' थे। महादौस्साधसाधनिक, महाकार्ताकृतिक, महासान्धिविग्रहिक[6] आदि पाल राज्याधिकारियो के पदनामो से पूर्व 'महा' शब्द जुडे होने से प्रकट होता है कि वे भी धीरे-धीरे महासामन्त और महाराज जैसे सामन्तो की श्रेणी मे आ रहे थे।[7] प्रतिहारो के साम्राज्य मे तो उच्च पदाधिकारियो के सामन्तीकरण की प्रवृत्ति बहुत ही सबल थी। द्वितीय महेन्द्रपाल का बलाधिकृत कोक्कट 'परमेश्वर-पादोपजीवी' कहलाना था।[8] इसका समकालीन माधव 'तन्त्रपाल' तथा 'महादण्डनायक' होने के साथ 'महासामन्त' कहा जाता था।[9] फिर, एक नगर का शासक उन्दभट महाप्रतिहार के पद पर था, किन्तु वह महा-

1. वही, 3, पृ. 266
2. वही।
3. वही, 14, पृ 187
4. वही।
5. गोयल, एस आर , हिस्टरी ऑफ एम्पीरियल गुप्तज, पृ. 295 अ
6. इ आई., 17, पृ. 321
7. शर्मा, आर.एस , भारतीय सामन्तवाद, पृ. 98
8. इ आई , 14, पृ 187
9. वही।

सामन्ताधिपति की उपाधि से भी विभूषित था।[1] इन विरुदो के साथ कुछ अधिकार और कर्त्तव्य सम्बद्ध रहे होंगे, किन्तु हमे उनका कोई ज्ञान नही है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि 'महासामन्त' पद काफी उच्च था क्योंकि प्रजाजन जब धार्मिक प्रयोजनो के लिए स्तम्भ स्थापित करते थे तो सम्राट के साथ महासामन्त के शासन का भी उल्लेख करते थे।[2]

उच्च राजकर्मचारियो के साथ सामन्तीय उपाधिया मिलने के दो कारण हो सकते हैं या तो सामन्तों अथवा महासामन्तो को विभिन्न राजपदो पर नियुक्त किया जाता या अथवा उच्चपदाधिकारियो को सामन्ती पद भी दे दिये जाते थे। रामशरण शर्मा के अनुसार[3] पहली सम्भावना कई कारणो से सही नहीं लगती। एक, पद पुराने थे, जबकि सामन्ती उपाधिया नई थी। दूसरे प्रतिहारो के साम्राज्य मे कुछ ऐसे राजकर्मचारी थे जिन्हे प्रारम्भ मे सामन्ती उपाधिया प्राप्त नही थीं, बाद मे मिली। तीसरे, प्रथम सम्भावना के स्वीकार का अर्थ है कि युवराज को भी पहले महासामन्त बनाया जाता था और तदुपरान्त युवराज-पद पर अभिषिक्त किया जाता था। यह निष्कर्ष असगत होगा क्योंकि प्राय ज्येष्ठ पुत्र ही जन्मतः युवराज माना जाता था।

हरिभद्रसूरि (700-770) के प्राकृत ग्रन्थ 'समराइच्चकहा'[4] से प्रतीत होता है कि कभी कभी सामन्तो के लिये 'भृत्य' और 'सम्बन्धी' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता था। इस ग्रथ से ज्ञात होता है कि पराजित सामन्त नरेश विजेता स्वामी और उसके सामन्तों के 'कुटुम्बी' मान लिये जाते थे।[5] इस प्रकार एक ही राजा से सम्बद्ध दो सामन्त जिनमे से एक शबर था और दूसरा वैश्य, एक दूसरे के साथ 'सम्बन्धी' बताए गए है।[6] इस शब्द का अनुवाद दशरथ शर्मा ने 'कुटुम्बी' किया है। लेकिन ये सामन्त न तो वे एक ही परिवार के थे और न उनके परिवार वैवाहिक सम्बन्ध से जुडे थे। फिर भी उनको परस्पर 'सम्बन्धी' शब्द का प्रयोग करना पडता था क्योंकि स्वामी और उसके सामन्तो के सम्बन्धो की अभिव्यक्ति और किसी शब्द से ठीक ठीक नही हो सकती थी।[7] 'समराइच्चकहा' से हमे यह भी ज्ञात होता है कि जब

1. वही, 1, पृ. 173
2. इ आई., 4, पृ. 309-10
3. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 100
4. पी. आई. एच. सी., 24, 1961, पृ. 80-81
5 वही।
6. वही।
7. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 101

सीमान्त क्षेत्र के विग्रह नामक एक सरदार ने अपने स्वामी के विरूद्ध विद्रोह किया तो उसके स्वामि-पुत्र ने जो विग्रह को ज्येष्ठ भ्राता समान मानता था, अपने लोगो को उसके विरूद्ध बहुत सख्त कार्यवाही न करने की मन्त्रणा देते हुए उसका यह कारण बताया 'यह विग्रह बहुत मामूली सरदार है लेकिन यह हमारे पिता को कर दिया करता था। इसलिए यह हमारा सम्बन्धी है और हमे उसके विरुद्ध कोई कठोर सैनिक कार्यवाही नही करनी चाहिए।'[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह राजकुमार और सामन्त दोनो एक ही स्वामी के आश्रित थे। इस उदाहरण मे शासकवश का एक क्षत्रिय राजकुमार अपने को शबर जातीय सरदार का अनुजवत् मानता है। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्ध सदैव वश परम्परा से ही जिस पर वर्ण धर्म आधृत था, निर्धारित नही होते थे। कभी कभी इनके पीछे राजनीतिक तथा सैनिक कारण भी हुआ करते थे। धर्मशास्त्रो के अनुसार राजा के आश्रित इस शबर सामन्त को अनार्य कहना चाहिए, लेकिन उसे राजा का पुत्रवत् माना गया है।

अन्य साम्राज्य मे सामन्तवाद का विकास

दसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध म गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य की अवनति के साथ उत्तर भारत का राजनीतिक विघटन हुआ। 1075 म कैवर्त विद्रोह के समय बगाल और बिहार लगभग दस लघु राज्यो म विभाजित थे। इन राज्यो के शासक अपने पाल स्वामी का प्रभुत्व नाम मात्र को ही मानते थे। जब पालो का स्थान सेनो ने ले लिया तो उनकी प्रभुसता को मिथिला के कर्णाटो और शायद दक्षिण-पूर्व बगाल मे ईश्वरघोष के वशजों ने चुनौती दी। उनके अतिरिक्त अन्य अनेक सामन्त राजवश सेनो को परेशान करते रहे। इसी प्रकार अधिकाश आधुनिक उत्तर प्रदेश पर गाहडवालो का अधिकार हुआ किन्तु गोरखपुर के कलचुरि उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बने। राजस्थान गुजरात और मालवा की अवस्था तो और भी बुरी थी। चाहमान पाच शाखाओ मे विभाजित थे और भडौच, जालौर (जाबालिपुर, 12 वी शती के मध्य स्थापित), शाकम्भरी, नाडोल और रणथम्भोर मे पृथकृत शासन करते थे। भडौच तथा रणथम्भोर के चाहमान 13 वी शती के प्रारम्भ मे प्रसिद्ध हुए, किन्तु उनका अस्तित्व पहले से ही था। 12 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे गुहिलो ने जाबालिपुर के चाहमानो को परास्त किया और 1207 से लेकर 1227 के बीच किसी समय पूर्णत स्वतन्त्र हो गये। दिल्ली और अजमेर प्रदेश भी तोमरो के अधीन हो गया। इसी प्रकार मालवा और उसके आस पास के क्षेत्रो मे शासन करने वाले परमार चार शाखाओ मे

1 पी आई एच सी, 1961, 24, पृ 81

विभक्त हुए। इनमे एक का केन्द्र मालवा था, दूसरे का आबू, तीसरे का भीनमाल और चौथे का किराडू। ये सभी शाखाएं बारहवी शताब्दी मे शासन कर रही थी। स्पष्टतः इनमे से कुछ का उदय राजकुमारो के बीच पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के कारण हुआ। लेकिन शेष राज्य सामन्तो और उच्च पदाधिकारियो को अनुदान स्वरूप छोटे बड़े क्षेत्र देने के कारण अस्तित्व मे आये। अनुदत्त क्षेत्रों मे दानग्राहक धीरे-धीरे अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति बढा लेते थे और अन्ततोगत्वा स्वतन्त्र शासक बन जाते थे।

उपर्युक्त लघु राज्यो के बीच चलने वाले निरन्तर युद्धो के प्रशासनिक एव आर्थिक परिणामो का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। पुलिस, न्यायपालिका और राजस्व विभागो के बिना कोई राज्य नही चल सकता था। इनके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य के अपने अलग सामन्त, पुरोहित तथा मन्दिर थे। स्पष्ट है कि इन सबका भार किसानो को वहन करना पड़ता होगा।

चाहमान युगीन राजनीतिक सामन्तवाद की एक विशेषता राजस्व के लिए अनेक गावो की इकाइयो का निर्माण है। चाहमानो और परमारो के राज्यो में ऐसी कई इकाइयों की चर्चा है। शायद ये इकाइया शासकवंश के सदस्यो मे पैतृक राज्य के विभाजन से बनी थीं। चाहमानो के कई अभिलेखो से सिद्ध है कि सामन्त नरेशो की भूमि उन परिजनों के बीच मे बाट दी जाती थी। इसका सबसे पहला प्रमाण भूतपूर्व जयपुर राज्य से प्राप्त चाहमानो की शकम्भरी शाखा का वि स. 1030 का एक अभिलेख है।[1] इसके अनुसार राजा सिंहराज, उसके दो भाई वत्सराज और विग्रहराज, दो पुत्र गण्डराज और गोविन्दराज तथा दूर के एक रिश्तेदार जयनराज एक शिव मन्दिर को अपने अपने स्वभोग मे से गाव और पुर वे दान दिये थे।[2] स्पष्ट है कि इन्हें प्रत्येक को अपनी पदप्रतिष्ठा और राजसेवा के अनुसार निर्वाह के लिए जागीरें मिली हुई थी। इस अभिलेख से यह भी स्पष्ट है कि राजा ही नहीं बल्कि शासक परिवार के अन्य सदस्य भी स्वभोग मे से चाहे जिसका जितना भी अश दान मे दे सकते थे।

ऐसे अनुदान से कुछ भिन्न उदाहरण हमे बारहवी शताब्दी मे मिलते हैं। 1143 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रीतिहुणक नाम की एक चाहमान रानी को गिरास (ग्रास–भोजन और वस्त्र प्राप्त करने के साधन)[3] के

---

1. इ. आई., 2, पृ. 116
2. वही।
3. तुलनीय, छठी शती मे मगध की रानी कोसलादेवी को अपने पिता से 'स्नान चुग्र मूल्य' रूप मे काशी के ग्रामो की प्राप्ति तथा मध्यकालीन रानियो का खर्च-ए-पानदान। द्र. गोयल एव गुप्त (सम्पा.), मागध साम्राज्य 1981, पृ 90 तथा पाद टिप्पणी।

रूप मे एक गाव मिला था।[1] स्पष्टत इस रानी को उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल एक निजी जागीर मिली हुई थी। राजकुल के सदस्यो द्वारा दान दिये जाने का एक स्पष्ट उदाहरण 1161 के एक नाडोल दानपत्र मे है इसके अनुसार 'राजकुल' अल्हणदेव और 'कुमार' केल्हणदेव ने सयुक्त रूप से राजपुत्र' कीर्तिपाल को बारह गाव समस्त अधिकारो के साथ दिये थे। कीर्तिपाल को यह जागीर सदैव के लिए दे दी गयी थी, क्योकि जब उसने एक जैन मन्दिर को इन गावो मे से प्रत्येक द्वारा होने वाली आय म से दो-दो सौ द्रम्मो का वार्षिक अनुदान दिया तब अपने उत्तराधिकारियो से अनुरोध किया कि वे उसके इस अनुदान की शर्तों का उल्लघन न करें।[3] दसवी शताब्दी के एक चाहमान अभिलेख मे बारह गांवो की एक इकाई का उल्लेख मिलता है।[4] लेकिन यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि यह इकाई व्यक्तिगत जागीर के रूप मे किसी को दी गयी थी या नही। शासक कुल के सदस्यो को भूमि अनुदान देने की प्रथा कीर्तिपाल के उत्तराधिकारियो के समय मे भी मिलती है। 1176 के एक दानपत्रानुसार उसके दो पुत्र राजपुत्र लखणपाल और राजपुत्र अभयपाल सिनाणव गाव के भोक्तृ थे।[5] एक और गाव पर भी, जिसका उपभोग ये रानी के साथ करते थे, इन दोनो भाइयो का स्वामित्व था, क्योकि इन तीनो ने उस गाव के अरघट (यन्त्रकूप) से लाभ उठाने वालो से प्राप्त अपने हिस्स का जो सयुक्त रूप से दान कर दिया था।[6]

राजमहिषियो और राजपुत्रो को दिये गये अनुदान न तो धम के नाम पर दिये गये थ और न इन सभी का सम्बन्ध राजसेवा से था। स्पष्टत रानिया प्रशासन मे भाग नहीं लेती थी (सिवाय उन रानियो के जो किसी राजा के अल्पव्यस्क होने पर उसकी सरक्षिका की हैसियत से राजकाज देखती थी), मगर 'राजपुत्रो के बारे मे ऐसा नहीं कहा जा सकता। रामशरण शर्मा[7] के अनुसार प्रारम्भ मे 'राजपुत्र प्रतिष्ठा पाने वाले को किसी न किसी प्रकार की भूमि अनुदानित की जाती थी। सम्भवत यह अनुदान ऐसे सामन्तो को दिया जाता था जिनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे राज्य

1. इ आई, 11, पृ 32–33
2 वही, 9 पृ 66–67
3 वही।
4 वही, 2, पृ 119
5 इ आई 11, पृ 50–51
6 वही।
7 शर्मा रामशरण भारतीय सामन्तवाद, पृ 182

की कुछ सेवा करेंगे । उदाहरण के लिए महाराज कीर्तिपाल के पुत्र महाराज समरसिंह के शासनकाल मे उसका मामा राजपुत्र जोजल 'राज्यचिन्तक पद पर काम करता था ।[1] दशरथ शर्मा के अनुसार शासन का काम नाडोल परिवार चलाता था ।[2] इतना निश्चित है कि सामन्तो से जो मुख्यत राजा के सम्बन्धी-कुटुम्बी हुआ करते थे, आशा की जाती थी कि वे समय पडने पर राजा की सहायता करेंगे । इसके प्रति दान स्वरूप राजा उन्हे जागीरें दिया करते थे । यह सहायता किस प्रकार की होती थी, कहना कठिन है । परवर्तीकाल में जागीरदार युद्धकाल मे अपने स्वामी की सहायता करते थे । यह सहायता किस प्रकार की होती थी, कहना कठिन है । परवर्तीकाल मे जागीरदार युद्धकाल मे अपने स्वामी की सहायता करते थे और जब कोई जागीरदार मरता था तो उसका उत्तराधिकारी उस जागीर पर अधिकार प्राप्त करने के पूर्व स्वामी को नजराना देता था ।[3] ये दो कर्त्तव्य पूर्ण करने के उपरान्त वे अपनी-अपनी जागीरो मे छोटे-मोटे राजाओ की तरह लगभग निर्बाधरूपेण शासन करते थे ।[4] सम्भव है कि पूर्ववर्ती चाहमानो के शासनकाल म भी इसके सदृश स्थिति रही हो यद्यपि इस अनुमान के पक्ष मे कोई सबल प्रमाण उपलब्ध नही है ।

परन्तु चाहमान काल मे प्रशासन भार सम्पूर्णत शासक परिवार के ही हाथो मे ही नही था । यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि राज्य मे कुछ ऐसे भी उच्च पदाधिकारी भी होते थे जिनका राजपरिवार से कोई सम्बन्ध नही था । 973 में महाराजाधिराज सिंहराज के दुस्साध्य घघुक ने अपने स्वामी की अनुमति से खटटकूप विषय स्थित अपना एक गाव शिव मन्दिर को दान दिया था ।[5] घघुक इस मन्दिर को दान देने वाले सात दाताओ मे से एक था । शेष छ दाताओ मे एक स्वय राजा था और पाच राजपरिवार के सदस्य । यही कारण है कि घघुक के अतिरिक्त जो छ अन्य दाता थे, उनको यह अनुदान देने के लिए किसी की अनुमति नही लेनी पडी थी ।[6] स्पष्ट है कि घघुक को और भी गाव मिले हुए होगें । लेकिन वह धार्मिक अनुदान भी दाता की अनुमति बिना नही दे सकता था, इसलिए

1 इ आई , 11, पृ 53
2 अ चौ डा , पृ 228-229
3 बेन्नेन पावेल, द इण्डियन विलेज काम्युनिटीज पृ 196-202
4 वही ।
5 इ आई , 2, पृ 119
6 वही ।

उन पर उसे सीमित अधिकार ही प्राप्त थे। मारवाड़ से प्राप्त 1110 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि अश्वराज के शासनकाल में अश्वशालाध्यक्ष उप्पलराज ने चार ग्रामों से अरघट्ट-कर के रूप में प्राप्त होने वाला अपने हिस्से का जौ एक मन्दिर को दान दे दिया था।[1] स्पष्टतः वे गांव, जिनसे प्राप्त होने वाले कर का कुछ हिस्सा यह अधिकारी अपनी इच्छानुसार दान दे सकता था, राजा ने उसे सम्पूर्ण अधिकारों सहित प्रदान किये थे। रामशरण शर्मा के अनुसार चाहमान शासन के अन्तिम दिनों में मन्त्रियों को बड़ी-बड़ी जागीरें दी जाती थी।[2] तृतीय पृथ्वीराज का प्रमुख परामर्शदाता कदम्बवास 'मण्डलेश्वर' उपाधि प्राप्त था। इससे प्रकट है कि या तो वेतन स्वरूप अथवा उसकी प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर उसे एक सम्पूर्ण मण्डल दे दिया गया था।[3] इन तीन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जो पदाधिकारी राजकुल से असम्बद्ध थे, बहुधा उन्हें भी भूमि के अनुदान दे दिये जाते थे।

परमार अभिलेखों में शासक-कुल के सदस्यों को भूमि अनुदान दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। भोज के समय के वि. स. 1067 के एक दानपत्र[4] में वत्सराज को, जो सम्भवतः किसी राजपरिवार में उत्पन्न हुआ था, अवश्य ही 'भोक्तारमहाराजपुत्र' कहा गया है, जो स्पष्टतः 'भोक्तृ महाराजपुत्र' का अशुद्ध रूप है।[5] उसे मोहदवासक नाम की एक जागीर मिली हुई थी[6] जो तब से लगभग साठ वर्ष पूर्व तक सीयक का 'स्वभोग' था।[7]

परन्तु चाहमान अभिलेखों की अपेक्षा परमार अभिलेखों में गावों की इकाइयों का उल्लेख अधिक हुआ है। कम से कम सात इकाइयों का उल्लेख तो मिलता है।[8] इनमें से पाच, बारह या बारह के बहुगुण संख्यक गावों वाली इकाइया थी। सबसे बड़ी इकाई में 84 गाव थे। दो इकाइया सोलह अथवा सोलह के बहुगुण संख्यक गाव वाली थी।[9] रामशरण शर्मा के अनुमतानुसार ये इकाइया शासक कुल के अलग-अलग सदस्यों के अधीन स्वतन्त्र

1 वही, 11 पृ 28-29
2 शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद पृ 183
3 अ चौ डा, पृ 224 पाद टिप्पणी, 35
4 इ आई, 33, पृ 192
5 वही, पृ 193
6 वही।
7 वही, 19, पृ 242
8 शर्मा, रामशरण भारतीय सामन्तवाद, पृ. 184
9 गागूली, डी सी, हिस्टरी ऑफ दि परमार डायनेस्टीज, पृ 236-38

राज्यो के समान थी । यह पद्धति विजित प्रदेशा को शासक परिवार के सदस्यो मे बाट देने की परिपाटी का परिणाम थी ।[1] एक परमार अभिलेख मे जो 11 वी शती के उत्तरार्द्ध का है 84 कर मुक्त गावो का उल्लेख[2] होने से यह अनुमान सरलता से होता है । परवर्ती युगीन राजपुताना मे चौरासी गावो *की जो इकाइया थी वे शासक परिवारो के सदस्यो की जागीरें हो रही होगी।*

परमार अधिकारियो के लगभग आधे दर्जन पदो का उल्लेख उपलब्ध है । *परन्तु उनमे से कुछ को ही भूमि दिये जाने की चर्चा है ।* इनमे से एक दसवी शती ईसवी का महासाधनिक श्री महाइक था जिसका काम सम्भवत अपराधियो को दण्डित करना और अपराधो की रोक थाम करना था । 11 वी शती का ऐसा कोई अभिलेख नही मिलता ।

परमार अभिलेखो म कुछ अधीनस्थ सरदारो और सामन्तो का भी उल्लेख है । इनमे कुछ को प्रशासन के लिये बडे-बडे क्षेत्र दिये गये थे । इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण शूरादित्य का एक सामन्त है । वह कन्नोज के श्रवणभद्र के परिवार का था और भाज या उसके पिता सिन्धुराज द्वारा सगमरखेट का मण्डलेश्वर नियुक्त किया गया था।[3] इस कृपा के प्रतिदान स्वरुप वह अपने स्वामी को सैनिक सहायता देता था ।[4] हो सकता है कि वह यदा-कदा अथवा नियमित रूप स कुछ कर भी देता रहा हो, यद्यपि अभिलेखो मे इसकी कोई चर्चा नही है ।

गुजरात के चौलुक्य राज्य मे त्रिलोचनपाल के 1051 के एक दानपत्र मे नौ नौ सौ और बयालीस बयालीस गावो के समूहो का उल्लेख मिलता है ।[5] यह उदाहरण भी विजेता कुल के सदस्यो द्वारा पैतृक सम्पति परस्पर विभाजित कर लेने की प्रथा का स्मरण दिलाता है । परन्तु जैसा कि रामशरण शर्मा ने ध्यान दिलाया है[6] एक बात मे चालुक्य राजवश अन्य समकालीन राजवशो से भिन्न था। चालुक्य नरेशा ने अपने सामन्तो और उच्च पदाधिकारियो को अनुदानस्वरूप बहुत बडे बडे भूखण्ड प्रदान किय थे । परिणामत उनके पदाधिकारियो की स्थिति अन्य

1 शर्मा, रामशरण भारतीय सामन्तवाद, पृ 184
2 इ आई, 19, पृ 72, आर डी बनर्जी ने 'मान्यकपट्ट' शब्द का अर्थ 'करमुक्त' लगाया है। वही, पृ 64
3 इ आई, 19, पृ 242
4 वही।
5 वही 12, पृ 196
6 शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ 187-88

सामन्तों की तरह ही हो गयी। इस अनुमान का एक आधार न केवल उनके 12 वी – 13 वी शताब्दियों के दानपत्र हैं वरन् 'लेखपद्धति' नामक एक लेख-सकलन मे भी इसकी पुष्टि होती है। लेख पद्धति' का सकलन 15 वी शताब्दी मे हुआ था। इसमे राजकीय प्रपत्रों के उदाहरण दिये गये हैं। इसमे उदधृत जिन प्राचीनतम प्रपत्रों मे महामात्यो और राणकों द्वारा अनुदान देने का उल्लेख मिलता है उनका काल वि स 802 बताया गया है। इन प्रपत्रों के अनुसार महामात्यो और राणकों ने अपने-अपने सामन्तों को बडी-बडी जागीरें दी और प्रतिदान स्वरूप उन सामन्तों ने अपने-अपने स्वामियो को एक निश्चित सख्या मे घोडे देने और अपनी अपनी जागीरो मे शाति और सुव्यवस्था बनाये रखने का दायित्व लिया।[1] 'लेख पद्धति' म ऐसे बहुत से अनुदान-पत्रों का काल वि स 802 बताया गया है।[2] इससे निष्कर्ष निकलता है कि 8 वी शती मे गुजरात मे इस सामन्तवादी प्रवृत्ति का पर्याप्त विकास हो चुका था। किन्तु इस निष्कर्ष की पुष्टि किसी अन्य प्रमाण से नही होती। दूसरी ओर जिन शासन पत्रों को 'लेख पद्धति' मे वि स 802 बताया गया है वे उससे 500 वर्ष बाद की शैली मे लिखे गये प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ इनमे एक राजा के लिए 'गर्जनिकाधिराज- (महमूद गजनवी)[3] विजेता 'विशेषण का प्रयोग हुआ है। जिसका प्रयोग 8 वी शती ई मे स्पष्टत असम्भव था। इसके बाद इस विशेषण का प्रयोग 1206[4] और 1223 के अभिलेखो मे हुआ है।[5] फिर भी, 'लेख पद्धति'' मे सकलित प्राचीनतम प्रपत्र का काल 12 वी शती का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। इस प्रपत्र मे दो ऐसे वाक्याशों का प्रयोग है जो इस काल के चौलुक्य अभिलेखो मे विशेष रूप से पाये जाते हैं। इनमे एक है तन्नियुक्त-महामात्य श्री श्री करणादिसमस्त मुद्राव्यापारान् परिपन्थयति सति[6] और दूसरा है 'नियुक्त दण्डनायक'।[7] इसलिए इस सकलन में जिन अनेक प्रपत्रो का समय वि स 1288 बताया गया, वे इससे बहुत बाद के नही हो सकते।

1 लेख पद्धति, पृ 7
2 वही, पृ 2, 8, 10, 15
3 शर्मा, आर एस भारतीय सामन्तवाद, पृ 189 पर उद्धृत
4 आई ए 6, पृ 194। यह विशेषण द्वितीय मूलराज के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका राजत्वकाल 1175-8 है।
5. वही, पृ 197
6 आई ए 18, पृ 343
7 वही, पृ 347

इनमे से एक प्रपत्र से महासामन्त लवणप्रसाद के जीवन और कार्यो पर काफी प्रकाश मिलता है। उसका सामन्त के रूप मे उल्लेख सबसे पहले अजयपाल के 1173 के एक अभिलेख मे उपलब्ध है। उसे'भैल्लस्वामी-महाद्वादशक मण्डल' मे स्थित उदयपुर का दण्डनायक नियुक्त किया गया था जहा उसने 64 गावो की एक इकाई मे से शिव के नाम पर एक गाव दान दिया था।[1] लवणप्रसाद के अधिकार मे चाहे जितना भी क्षेत्र रहा हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि वह राजा की अनुमति लिये बिना भी अपने क्षेत्र मे भूमि दान दे सकता था। दूसरे शब्दो मे उसकी प्रतिष्ठा सामन्त राजा जैसी थी। स्वामी के प्रति अपने दायित्वो का निर्वाह करते हुए वह अपने राज्य मे जो चाहे कर सकता था। 'लेख पद्धति' मे सकलित 1231 के एक प्रपत्र से ज्ञात होता है कि भीम के शासन काल मे वह महामण्डलाधिपति राणक था, और उसे अपने स्वामी से 'प्रसादपत्तला' (जागीर) के रूप मे खेटकाधार का पथक मिला हुआ था।[2] इस जागीर के मिल जाने से उसकी शक्ति और प्रभाव मे बहुत वृद्धि हुई क्योकि जबकि 1173 के उपर्युक्त अभिलेख के अनुसार वह अजयपाल द्वारा नियुक्त एक दण्डनायक (तन्नियुक्त दण्डनायक) मात्र था,[3] अब उसने खेटकाधार मे माधव नामक व्यक्ति को स्वय अपना दण्डनायक नियुक्त किया (तन्नियुक्त दण्डनायक श्रीमाधव)[4]। अजयपाल के शासनकाल का एक अन्य शक्तिशाली सामन्त चाहमान महामण्डलेश्वर वैजल्लदेव था। वह 1175 मे राज कृपा से नर्मदा तटवर्ती प्रदेश का शासक था। (अजयपाल देवेनप्रसादी कृत्य)।[5] उसने अपने मण्डल मे अपने स्वामी की अनुमति लिए बिना एक गाव दान दिया था।[6] स्पष्टत वैज्जलदेव को अपनी जागीर मे उपसामन्त बनाने का अधिकार प्राप्त था। यह स्पष्ट नही है कि वैज्जलदेव ने जिस पथक मे यह अनुदान दिया था वह उसे अजयपाल ने किसी पत्तला[7] द्वारा दिया था अथवा नही। गुजरात मे पत्तला का प्राचीनतम अभिलेखीय उदाहरण 1209 मे महामात्य प्रतिहार सोमराजदेव के नाम जारी किये गये उस दानपत्र मे है जिसके अनुसार उसे भीमदेव से सम्भवत समस्त सौराष्ट्र मण्डल जागीर के रूप मे प्राप्त हुआ

1. वही, पृ 347
2. लेख पद्धति, पृ. 5
3. आई. ए, 18, पृ 347
4. लेखपद्धति, पृ. 5
5. आई ए, 18 पृ. 84-85
6. वही।
7. लेखपद्धति के अनुसार 'पत्तला' शब्द का अर्थ है यह दानपत्र जिसमे राजा कतिपय निर्धारित सेवाओं के बदले किसी को जागीर दे।

था[1]। तदुपरान्त 1260 मे एक पत्तला का उल्लेख मिलता है। इसमे किसी महामण्डलेश्वर राणक को जागीर के रूप म शायद एक पथक दिया गया था।[2]

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि राजस्थान एव उत्तरी भारत के उत्तर प्रदेश, मध्य भारत और गुजरात आदि अन्य प्रदेशा के प्राय सभी राजवशो के शासक अपने अपने सामन्तो और पदाधिकारियो को उनकी सेवाओ के बदले मे अनुदानस्वरूप गाव दिया करते थे। इसके अतिरिक्त 11वी और 12 वी सदियो मे पदाधिकारियो को वेतन देने की एक विधि यह भी थी कि नियमित करो का कुछ अश अथवा कोई विशिष्ट कर उनके लिए अलग कर दिया जाता था। चाहमानो के काल म यह प्रथा बहुत सीमित थी। उन्हाने बलाधियो के लिए, जो एक प्रकार के सैनिक अधिकारी थे, गावो स एक विशेष कर वसूल किया। 1162 के एक दानपत्र मे कुमारपाल चौलुक्य के सामन्त आल्हण न एक गाव का बलाधिपाभाव्य एक मन्दिर को अनुदान मे दिया[3] और दूसरे का दूसरे मन्दिर को।[4] दशरथ शर्मा ने इस कर को उस मण्डपिका (चु गीघर) से होने वाली राजकीय आय का एक भाग माना है जिससे बलाधिप सम्बन्धित था।[5] किन्तु इन दोनो उदाहरणो म यह शुल्क ग्रामवासियो पर ही लगाया गया है, इसलिए रामशरण शर्मा का विचार है कि यह किसानो से लिया जाने वाला गहडवालो के अक्षपटलप्रस्थ और प्रतिहारप्रस्थ करो जैसा कोई कर था[6]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विचाराधीनकाल मे उत्तरी भारत मे सामन्त और स्वामी का सम्बन्ध अशत वैसा ही था जैसाकि सामन्तवादी व्यवस्था मे फ्रास तथा जर्मनी मे मिलता है। इन दोनो देशो मे सामन्त का मुख्य दायित्व अपने स्वामी की सैनिक सेवा करना था[7]। भारत के पुरालेखीय एव साहित्यिक साक्ष्यो से यह बात निर्विवादरूप से सिद्ध हो जाती है कि यहा भी

---

1 आई ए, 18, पृ 113
2 इ आई-, 18, पृ 210
3 अ चौ डा, पृ 212
4 वही, पृ 212-213
5 वही, पृ 232, पाद टिप्पणी 85
6 शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ 194
7 इग्लैण्ड मे उन्हे राज-काज म अपने स्वामी को परामर्श देना और न्याय प्रशासन मे हाथ बटाना पडता था। भारत मे सामन्तो को कोई ऐसा कर्तव्य नही निभाना हाता था।

सामन्त का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य अपने स्वामी की सैनिक सहायता करना ही था। वाण के 'हर्षचरित' एव धनपाल द्वारा रचित 'तिलकमन्जरी' के उल्लेखो से स्पष्ट है कि सामन्त अपने स्वामी के सैनिक अभियानो मे उसके साथ रहते थे।[1] मेरुतु ग की प्रबन्धचिंतामणि से भी ऐसा ही लगता है।[2]

इस काल मे अधिकारियो को वेतन स्वरूप भूमि अनुदान तो दिये जाते ही थे, साथ ही उन्हे बडी बडी उपाधियाँ भी दी जाती थी। इन उपाधियो का उनके कार्यों से कोई सम्बन्ध नही होता था।

सामन्ती श्रेणियो का विस्तृत वर्णन हमे 12 वी शती की कृति 'मानसार' मे मिलता है। इसके बयालीसवे अध्याय मे राजाओ की नौ श्रेणियो का उल्लेख किया गया है। इनमे सबसे ऊपर 'चक्रवर्ती'। उसके बाद क्रमश महाराज, अथवा अधिराज, महेन्द्र या नरेन्द्र, पाणिक, पट्टधर, मण्डलेश, पट्टमाज, प्रहारक और अस्त्रग्राही अनुसूचित है।[3] उनकी महता के अनुसार यह भी निश्चित किया गया है कि वे क्रमश कितने घोडें, सैनिक, सेविकाए और रानियाँ रख सकते थे। बारहवी शताब्दी[1] मे भट्ट भुवनदेव ने भी अपनी कृति अपराजितपृच्छा' मे नौ प्रकार के शासको का महत्व क्रमानुसार वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं, महीपति, राजा, नराधिप, महामण्डलेश्वर, माण्डलिक, महा-सामन्त, सामन्त, लघुसामन्त और चतुराशिक।[5] इनमे से प्रत्येक के पास कितना क्षेत्र होना आवश्यक है, यह भी इस ग्रन्थ मे बताया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ म सामन्ती राजसभा के गठन का भी वर्णन है। इसके अनुसार सम्राट की (जिसका विरुद 'महाराजाधिराज परमेश्वर' बताया गया है) सभा मे 4 मण्डलेश, 19 माण्डलिक, 16 महासामन्त, 32 सामन्त, 160 लघुसामन्त और 400 चतुराशिक होने आवश्यक हैं।[6] चतुरशिक से नीचे के समस्त राजपुरुषो को 'राजपुत्र' कहा गया है।[7] इसमे कुछ राजपुरुषो की आय के बारे मे भी चर्चा है। इसके अनुसार लघुसामन्त की आय 5 000 सामन्त की 10,000

1 तिलकमन्जरी, पृ 71, 74 93, 100
2 प्रबन्धचिंतामणि, पृ 17, 32, 80
3 आचार्य, पी के मानसार सिरीज, 6, पृ 125
4 मांकड, पी ए, जी ओ एस, पृ 12
5 81, 2-10
6 वही, 71, 33-34, 39
7. अग्रवाल, वा श, हर्षचरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 178 पाद टिप्पणी, 3

और महासामन्त की 20,000 होनी चाहिये। इसकी पुष्टि 14 वी शताब्दी के वास्तुकला सम्बन्धी ग्रंथ 'राजवल्लभमण्डन' से भी होती है।[1] 'अपराजित-पृच्छा' मे सामन्तो द्वारा प्रजा से वसूल किये जाने वाले राजस्व की दर के विषय मे कुछ नही कहा गया है, लेकिन इसमे राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता की दृष्टि से एक श्रेणीबद्ध समाज का चित्र अवश्य देखने को मिलता है।

अभिलेख सूची

क्रम स	वि स.	ईसवी सन्	प्राप्ति स्थल	उल्लिखित राजा या सामन्त का नाम	सदर्भ
1	2	3	4	5	6
1	770	713	चित्तौडगढ	मानमोरी	टॉड, एनाल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज, 1, पृ 625
2	770	713	शकरघट्टा	मानभग	राजस्थानी भारती, 2,2, पृ 30
3	795	738	कस्वा, कोटा	धवल	आई ए, 19, पृ 57
4	811	754	चित्तौडगढ		आई ए, 19, पृ. 373
5	840	783	तासी, अलवर		इ आई, 36, पृ 49
6	847		शेरगढ कोटा	सामन्त देवदत्त	जेड डी एम जी, 38, पृ 547, आई ए, 14, पृ 45
7	872	815	बुचकला, जोधपुर	नागभट	पी आर ए एस, डब्ल्यू सी, 1906-07, पृ 38, इ आई 9, पृ 199
8	879	822	सकराई, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1909-10, पृ 56
9	887	830	नासून, अजमेर	मण्डलेश्वर ईशानभट्ट	ए आर आर एम अजमेर, 1920-21, पृ 2, पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1920-21 पृ 56
10	894	837	जोधपुर	बाउक	जे.आर ए एस, 1894, प

1	2	3	4	5	6
					पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1906-07, पृष्ठ 30 इ आई, 18, पृ 95
11	898	842	धोलपुर	चण्डमहासेन	जेड डी एम जी, 40, पृ 39
12	900	843	दौलतपुरा, जोधपुर	प्रथम भोज	इ आई, 5, पृ 211, ज बी बी आर ए एस, 21, पृ 410, जे आर ए एस, 1904, पृ 642, इ आई, 8, पृ 1
13	918	861	घटियाला जोधपुर	कक्कुक	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1906 07, पृ 34, इ आई 9, पृ 280
14	918	861	घटियाला जोधपुर	कक्कुक	जे आर ए एस, 1895, पृ 516
15	918	861	घटियाला जोधपुर	कक्कुक	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1906-07, पृ 34, इ आई, 9, पृ 279
16	921	864	कामा		इ आई, 36, पृ 52
17	947	890	गागाणी जोधपुर		जे ले स, 2, पृ 164
18	947	890	घटियाला जोधपुर	राणुक	इ आई 19, पृ 8-9
19	973	916	बीजापुर पाली	विदग्धराज	इ आई, 10, पृ 24
20	982	926	पुष्कर, अजमेर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1909-10, पृ 59, ई आई 35, पृ 239

1	2	3	4	5	6
21	990	993	चान्दोली, अलवर		ए आर आर एम अजमेर 1919-20, पृ 2
22	990	933	पुष्कर, अजमेर	दुर्गराज	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1909-*10*, पृ *59*
23	993	937	चिराई, जोधपुर		इण्डियन आर्कियोलोजी, 1959-60, पृ 60
24	994	938	पुष्कर		इ आई, 35, पृ 243
25	996	939	बीजापुर, जोधपुर	मम्मट	इ आई, 10, पृ 24
26	999	942	प्रतापगढ	भर्तृपट्ट	इ आई, 14, पृ 187
27	1000	943	आहाड, उदयपुर	द्वितीय भर्तृपट्ट	ए आर आर एम अजमेर, 1913-14, पृ 2
28	1003	946	प्रतापगढ	द्वितीय महेन्द्रपाल	इ आई, *14*, पृ 182, आई ए, 45 पृ 122
29	1010	953	आहाड, उदयपुर	अल्लट	बी आई, पृ 67 आई ए, 58, पृ 162
30	1011	954	आमेर, जयपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1909-10, पृ 47
31	1012	955	बयाना, भरतपुर	महीपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी *1918-19*, पृ *43*
32	1013	956	थावला	सिंहराज	इ आई, 35, पृ 224

1	2	3	4	5	6
33	1013	956	आसिया, जोधपुर		ए एस आई 1908 09, पृ 108, जै ले स, 1, पृ 192
34	1016	960	राजौरगढ अलवर	मथनदेव	प्रा ले मा, 1, पृ 53, इ आई, 3, पृ 266
35	1016	960	ऊनबास		वरदा, 7, 4, पृ 9
36	1018	961	रूपनगर, किशनगढ		पी आर ए एस डब्ल्यू सी., 1910-11, पृ 43
37	1024	967	नाडोल, जोधपुर		एनाल्स एण्ड एन्टिक्वीटिज, 1, पृ 209
38	1027	970	चितौडगढ		
39	1028	971	एकलिंग, उदयपुर	नरवाहन	बी आई, पृ 70, जे बी बी आर ए एस 22, पृ 166
40	1028	971	निमतौर झालावाड	चामुण्डराज	ए एस आई आर 23, पृ 125
41	1030	973	हरास, जयपुर	विग्रहराज	जे ए एस बी, 4 पृ 361, इ आई, 2, पृ 119, पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1909-10, पृ 53, आई ए 42, पृ 60
42	1034	977	आटपुर, उदयपुर	शक्तिकुमार	एनाल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज, 1, पृ 706, जे पी ए एस बी, 8, पृ 63, आई ए 39, प 191

1	2	3	4	5	6
43	1051	995	बालेरा, जोधपुर	चौलुक्य मूलराज	इ ग्राई, 10, पृ 78
44	1053	996	बीजापुर, पाली	बालप्रसाद	जे ए एस बी, 62, पृ 309, इ आई, 10, पृ 20
45	1053	996	राजौरगढ, ग्रलवर		ए ग्रार ग्रार एम अजमेर 1918-19, पृ 2
46	105ɔ	999	सकराई, जयपुर	वत्सराज	पी आर ए एस डब्ल्यू. सी 1909-10, पृ 57
47	1056	999	किणसरिया, जोधपुर	दुर्लभराज	ग्राई ए ,42, पृ 267, इ ग्राई, 12 पृ 59
48	1059	1002	रोपी		एनुग्रल रिपोर्ट ग्रॉफ सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी 1935,पृ 6 इ आई, 22, पृ 196-98
49	1063	1006	घानोप, शाहपुरा	चच्च	ग्राई ए, 40, पृ 175
50	1063	1006	बारलू, जोधपुर		पी ग्रार ए एस डब्ल्यू सी 1911-12, पृ 53
51	1069	1013	भीनमाल, जोधपुर		मरु भारती 1965, 2, पृ 50 इ ग्राई, 36, पृ. 95
52	1070	1014	पोकरण		एनुग्रल रिपोर्ट ग्रॉफ सुमेर पब्लिक लाइ-ब्रेरी, 1931, पृ 8
53	1074	1017	शेरगढ, कोटा		ग्राई ए 40, पृ 176
54	1075	1018	ग्रोसिया, जोधपुर		ए एस ग्राई, 1908-09, पृ 108

1	2	3	4	5	6
55	1076	1019	रूपनगर, किशनगढ		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1910-11, पृ 43
56	1076	1019	बासवाडा	भोजदेव	आई ए, 41, पृ 201 इ आई पृ 182
57	1076	1019	वरमान, सिरोही		पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1916-17, पृ 72
58	1082	1025	घटियाला, जोधपुर		इ आई, 19, पृ 19
59	1083	1026	उदयपुर		वरदा, 6, 1, पृ 5
60	1084	1027	शेरगढ, कोटा		आई ए 40, पृ 176
61	1090	1033	घटियाला, जोधपुर	चाहिल	इ आई 19, पृ, 20
62	1099	1042	वसन्तगढ़, सिरोही	पूर्णपाल	जे ए एस बी, 10, पृ 671 इ आई, 9, पृ, 12, आई ए 40 पृ 239
63	1099	1042	वरमान, सिरोही	पूर्णपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1916-17 पृ 72
64	1100	1044	बयाना, भरतपुर	विजया-धिराज	आई ए, 14, पृ 10
65	1101	1044	राजौरगढ, अलवर		ए आर आर एम अजमेर, 1918-19, पृ 2
66	1102	1045	भण्डुण्ड, सिरोही	पूर्णपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1907-08, पृ 50 जे बी बी आर ए एस, 23, पृ 78

1	2	3	4	5	6
67	1107		राजपुर, अलवर		ए आर आर एम अजमेर, 1918-19, पृ 2
68	1111		बागोडिया, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1911-12, पृ 52
69	1116	1059	पाणहेरा, बासवाडा	जयसिंहदेव	ए आर आर एम अजमेर, 1916-17, पृ 2, इ आई 21, पृ 41
70	1117	1060	भीनमाल, जोधपुर	कृष्णराज	बी जी 1, पृ 472, पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1907-8, पृ 37
71	1119	1062	आबू	प्रथम भीमदेव	इ आई, 9, पृ 148
72	1123	1067	भीनमाल, जोधपुर	कृष्णराज	बी जी, 1, पृ 473
73	1130		नांदिया, सिरोही		ए आर आर एम अजमेर, 1923-24, पृ 3
74	1132	1075	आउवा, जोधपुर	छिद्रपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908-09, पृ 50
75	1135	1079	सिरोही		ए आर आर एम अजमेर, 1921-22, पृ 1
76	1136	1080	अथूर्णा, बासवाडा	चामुण्डराज	आई ए, 22 पृ 80, इ आई, 14 पृ 297
77	1137	1081	अजमेर		ए आर आर एम अजमेर, 1920-21, पृ 2

1	2	3	4	5	6
78	1140	1083	कदमाल		इ आई, 31, पृ 237-248
79	1143	1087	कोरटा, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यु सी, 1908 09 पृ 52
80	1143	1087	झालरा पाटन, झालावाड	उदयादित्य	पी आर ए एस. डब्ल्यू,सी ,1905 06, पृ 56 जे पी ए एस बी 10 पृ 241
81	1147	1091	सादडी, जोधपुर		ई आई 9 पृ, 158, इ आई 11 पृ 27
82	1147	1091	नाडोल, जोधपुर	जोज्जलदेव	इ आई ,9, पृ 159, पी आर ए एस डब्ल्यू सी , 1908-09, पृ 45 इ आई, 11, पृ 28
83	1150	1093	रघुनाथ, जयपुर	.	पी आर ए एस डब्ल्यू सी , 1909 10, पृ 55
84	1151	1094	पाली		पी आर ए एस डब्ल्यू सी , 1907 08 पृ 45
85	1157	1100	अथूर्णा, बासवाडा	चामुण्डराज	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908 09, पृ 49,
86	1159	1102	अथूर्णा, बाँसवाडा	चामुण्डराज	ए आर आर एम अजमेर, 1914-15, पृ 2

1	2	3	4	5	6
87	1162	1105	सागारली, सिरोही	दुर्लभराज	ए आर आर एम अजमेर, 1910-11 पृ 7
88	1162	1105	रेवासा, जयपुर	प्रथम पृथ्वीराज	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1909 10 पृ 52
89	1164	1107	कदमाल, उदयपुर	विजयसिंह	ए आर आर एम अजमेर, 1917-18 पृ 2
90	1165	1108	अथूर्णा, बासवाडा	विजयराज	ए आर आर एम अजमेर 1917-18 पृ 2
91	1166	1109	अथूर्णा, बांसवाडा	विजयराज	पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1908-09 पृ 49
92	1167	1110	सेवाडी, जोधपुर	कटुकराज	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1907 08, पृ 53, इ आई, 11, पृ 28
93	1168	1111	आउवा, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908 09, पृ 50
94	1170	1113	अजबगढ, अलवर		ए आर आर एम अजमेर, 1918-19, पृ 2
95	1172	1115	सेवाडी, जोधपुर	कटुकराज	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1907 08, पृ 53, इ आई 11, पृ 30
96	1173	1116	पालडी, उदयपुर	विजयसिंह	ए आर आर एम अजमेर, 1915-16 पृ 3

1	2	3	4	5	6
97	1174	1117	जालौर, जोधपुर	वीशल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908-09, पृ 54
98	1175	1118	बडगामा, अलवर		ए आर आर एम अजमेर, 1919-20, पृ 2
99	1175	1118	जालौर, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1908 09, पृ 56
100	1176	1119	केकिन्द, जोधपुर	महिपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1910-11, पृ 35
101	1176	1119	सेवाडी, जोधपुर	रतनपाल	इ आई 11, पृ 308
102	1178	1121	केकिंद जोधपुर	पीप्लराज	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1910-11, पृ 35
103	1181	1124	पटनारायण सिरोही		पी आर ए एस डब्ल्यु सी, 1906-07, पृ 27
104	1186	1129	भीनमाल, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1907-08 पृ 38
105	1187	1130	नाडलाई, जोधपुर		जै ले स 1, पृ 212
106	1189	1132	नाडलाई जोधपुर	रायपालदे	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908-09, पृ 43, इ आई, 11, पृ 35 जै ले स 1, पृ 213
107	1189	1132	बसी, नागौर	अजयपाल	इण्डियन आर्कियोलोजि, 1962-63, पृ 54

1	2	3	4	5	6
108	1195	1138	नाडलाई, जोधपुर	रायपालदेव	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908-09, पृ 43, इ आई, 11 पृ 36
109	1196	1139	रेवासा, जयपुर	अर्णोराज	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1909-10, पृ 52
110	1198	1141	नाडोल, जोधपुर	रायपाल	इ आई, 9, पृ 159, 11, पृ 39
111	1199	1142	झालरा पाटन, झालावाड	यशोवर्मनदेव	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1905-06, पृ 56
112	1200	1143	नाडलाई, जोधपुर	रायपाल	जै ले स, 1, पृ 213
113	1200	1143	कैक्न्दि, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1910-11, पृ 35
114	1200	1143	नाडलाई, जोधपुर	रायपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908-09, पृ 43, इ आई, 11, पृ 41
115	1200	1143	नाडोल, जोधपुर	रायपालदेव	इ आई, 9, पृ 159
116	1200	1143	नाडोल, जोधपुर	रायपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908-09, पृ 45
117	1200	1143	बाली, जोधपुर	जयसिंह	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1907-08, पृ 54, इ आई, 11, पृ 33

1	2	3	4	5	6
118	1200	1143	चालू		अ चौडा, पृ 106
119	1201	1144	दिलवाडा आबू		इ आई, 9, पृ 151
120	1201	1144	पाली		पी आर ए एस.डब्ल्यू सी, 1907-08, पृ 45
121	1202	1145	अजहारी सिरोही	यशोधवल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1910 11, पृ 38, आई ए, 56, पृ 12
122	1202	1145	नाडलाई, जोधपुर	रायपालदेव	ई आई, 11, पृ 43
123	1202	1145	केकिन्द, जोधपुर	सहणपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1910-11, पृ 35
124	1204	1147	अराई, किशनगढ		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1910-11, पृ 45
125	1205	1148	किराडू, जोधपुर	कुमारपाल	जै ले स, 1 पृ 251
126	1207	1150	चित्तौड	कुमारपाल	इ आई, 2, पृ 422, पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1903 04, पृ 57
127	1207	1150	आबू	यशोधवल	इ आई, 9, पृ 149
128	1208	1152	राजगढ अलवर	पृथ्वीपालदेव	ए आर आर एम अजमेर, 1918 19, पृ 2
129	1209	1152	किराडू, जोधपुर	कुमारपाल	इ आई, 11, पृ 44

1	2	3	4	5	6
130	1209	1152	पाली, जोधपुर	कुमारपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1907-08,पृ 45
131	1210	1153	अजमेर	विग्रहराज देव	आई ए ,20, पृ 210
132	1210	1153	भण्डुण्ड, जोधपुर	कुमारपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू, सी , 1907-08, पृ 52
133	1211	1154	लोहारी, उदयपुर	वीशलदेव	ए आर आर एम अजमेर, 1922-23, पृ 2
134	1212	1155	थकरडा डूगरपुर	सूरपाल	ए आर आर एम अजमेर, 1915-16, पृ 3, आई ए , 56, पृ 225
135	1213	1156	नाडोल, जोधपुर	कुमारपाल	आई ए , 41, पृ 203
136	1213	1156	घाणेराव		इ आई , 11, पृ 70
137	1213	1156	पचकुण्ड, जोधपुर		अनुवेषणा, 1,1, पृ 45
138	1213	1156	सेवाडी, जोधपुर		प्रा जै ले स ,2, पृ 326
139	1215	1158	नाडोल, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी , 1908-09, पृ 46
140	1215	1158	नरहड		म चौ डा , पृ 203
141	1216	1159	नोसल, किशनगढ	वासुदेवराज	पी आर ए एस डब्ल्यू सी , 1910-11 पृ 26

1	2	3	4	5	6
142	1216	1160	मूगथला सिरोही		पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1906-07, पृ 26
143	1216	1159	बाली, जोधपुर	कुमारपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1907-08, पृ 55
144	1217	1160	जयपुर		ए आर आर एम अजमेर, 1920-21, पृ 2
145	1218	1161	नाडोल जोधपुर	कीर्तिपाल	इ आई, 9, पृ 68 आई ए, 40, पृ 146
146	1218	1161	नाडोल, जोधपुर	अल्हणदेव	जे बी बी आर ए एस 19 पृ 30, इ आई 9, पृ 64
147	1218	1161	किरा॰, जोधपुर	कुमारपाल	जै ले स, 1 पृ 251
148	1219	1162	झवर, जोधपुर	गजसिंहदेव	जे पी ए एस बी, 12, पृ 102
149	1220	1163	कायदरा	धारावर्ष	पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1906-07, पृ 24, आई ए, 56, पृ 51
150	1220	1163	बामनेरा, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1908-09, पृ 53, इ आई, 13, पृ 208
151	1221	1164	बीशलपुर, जयपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1920 21, पृ 26
152	1221	1164	जालोर जोधपुर	कुमारपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1908-09, पृ 55
153	1221	1164	साण्डेराव जोधपुर	केल्हणदेव	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908-09,

1	2	3	4	5	6
					पृ 51; इ.आई, 11, पृ. 47; जै. ले.स., 1, पृ. 299
154	1222	1165	पाल, जोधपुर		जे.पी ए.एस.बी , 12, पृ. 104; जे ए एस.बी , 10, पृ. 104
155	1223	1166	अजहारी		पी आर ए एस. डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 39
156	1223	1166	वाणेरा	केल्हणदेव	पी आर.ए.एस.डब्ल्यू सी', 1908-09, पृ. 53; इ आई. 13, पृ 210
157	1223	1166	नाडोल जोधपुर	केल्हणदेव	पी.आर ए एस.डब्ल्यू. सी , 1907-08, पृ. 45; ए एस.आई. 1907-08, 2, पृ 228
158	1224	1167	पीपाड, जोधपुर		पी आर.ए एस डब्ल्यू. सी , 1911-12, पृ. 52
159	1224	1167	सादडी जोधपुर		पी.आर.ए एस डब्ल्यू सी., 1907-08, पृ. 56
160	1224	1167	रामगढ, कोटा		पी आर.ए एस डब्ल्यू. सी, 1905-06, पृ. 57

1	2	3	4	5	6
161	1224	1167	कोजरा, सिरोही		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1916-17, पृ 62
162	1224	1167	केकिन्द, जोधपुर		पी आर ए,एस डब्ल्यू सी, 1910 11, पृ 36
163	1225	1168	साचोर जोधपुर	भीमदेव	जै ले स, 1, पृ 248
164	1225	1168	घोड उदयपुर	द्वितीय पृथ्वीदेव	ए आर आर एम अजमेर 1922-23, पृ 2
165	1225	1168	मीनाल उदयपुर		पी आर ए डब्ल्यू सी, 1905 06, पृ 59
166	1226	1169	पाल, जोधपुर		जे पी ए एस,बी 12, पृ 106
167	1226	1169	बिजोलिया उदयपुर	सोमेश्वर	जे ए एस बी 50, पृ 40, इ आई, 26, पृ 208
168	1226	1169	मीनालगढ	द्वितीय पृथ्वीराज	जे ए एस बी 50, पृ 46 वी वि, 1, पृ 389
169	1227	1170	झवर जोधपुर	केल्हणदेव	जे पी ए एस बी ,12, पृ 104
170	1228	1171	घोड, उदयपुर	सोमेश्वरदेव	ए आर आर एम अजमेर, 1922-23, पृ 2
171	1228	1171	नाडलाई जोधपुर	कुमारपाल	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908 09, पृ 44, इ आई, 11, पृ 48

1	2	3	4	5	6
172	1228	1171	जगत, उदयपुर	सामन्तसिंह	ए ग्रार ग्रार एम ग्रजमेर, 1914-15, पृ 3; ग्राई ए, 53, पृ 100
173	1228	1171	घौड, उदयपुर	सोमेश्वर	ए ग्रार ग्रार एम, ग्रजमेर, 1922-23, पृ 2
174	1229	1172	ग्राउवा, जोधपुर		पी ग्रार ए एस डब्ल्यू सी 1908-09, पृ 50
175	1230	1173	रेवासा, जयपुर	सोमेश्वर	पी ग्रार ए एस डब्ल्यू सी, 1909-10, पृ 52
176	1231	1174	रामगढ, कोटा		पी ग्रार ए एस डब्ल्यू सी, 1905 06, पृ 57
177	1231	1174	पचदेवली, सिरोही	केल्हणदेव	पी ग्रार ए एस डब्ल्यू सी, 1916-17, पृ 66
178	1232	1175	टोकरा, सिरोही		पी ग्रार ए एस डब्ल्यू सी, 1916-17, पृ 68
179	1232	1175	पाल, जोधपुर		जे पी ए एस बी, 12, पृ 105
180	1233	1176	लालराई, जोधपुर	केल्हणदेव	इ ग्राई, 11, पृ 49
181	1233	1176	पीण्डवारा	धारावर्ष	एस ग्रार के ग्राई पृ 26
182	1234	1177	ग्रोसिया		ए एस ग्राई,

1	2	3	4	5	6
			जोधपुर		1908-09, पृ. 109
183	1234	1177	ग्रनवलदा, उदयपुर	सोमेश्वर	ए आर आर एम अजमेर 1922-23, पृ 2, आई ए, 55, पृ 49
184	1234	1177	बाडले		अ चौ डा, पृ 107
185	1235	1178	किराडू, जोधपुर	भीमदेव	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1906-07, पृ 42
186	1236	1179	ओसियाँ, जोधपुर	केल्हणदेव	जै ले स, I, पृ 198
187	1236	1179	साण्डेराव, जोधपुर	केल्हणदेव	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1908-09, पृ 50, इ आई, 11, पृ 52
188	1236	1179	फलौदी, जोधपुर	पृथ्वीदेव	जे पी ए एस बी 12 पृ 93
189	1236	1179	लोहारी उदयपुर	तृतीय पृथ्वीराज	आई ए, 56, पृ 49
190	1236	1179	सोलज, डूंगरपुर	सामन्तसिंह देव	ए आर आर. एम अजमेर 1914-15, पृ 3
191	1237	1180	हाथल, सिरोही	धारावर्ष	आई ए, 43, पृ 194
192	1237	1180	उस्त्रा, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1911-12, पृ 53
193	1237	1180	नाणा, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1907-08, पृ 49
194	1239	1182	भीनमाल, जोधपुर	जयन्तसिंह देव	जे बी जी, I, पृ 474, पी आर ए एस डब्ल्यू

1	2	3	4	5	6
					सी.,0907-08, पृ. 38
195	1239	1183	जालोर, जोधपुर	समरसिंह देव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.,1908-09, पृ. 55; इ.आई., 11, पृ. 53,
196	1239	1183	मदनपुर		अ. चौ. डा., पृ.109
197	1240	1184	अजारी, सिरोही	धारावर्ष	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.,1910-11, पृ 38
198	1241	1184	पाल, जोधपुर		जे पी.ए.एस.बी., 10 पृ.407, प्रा.जै.ले.सं. स. 429
199	1242	1185	पाल, जोधपुर		जे पी.ए.एस.बी , 12, पृ. 105
200	1242	1185	साचोर, जोधपुर	भीमदेव	एनुअल रिपोर्ट ऑफ सुमेर पब्लिक, लाई-ब्रेरी, 1936, पृ. 7
201	1242	1185	जालोर, जोधपुर	समरसिंह देव	इ. आई., 11,पृ. 55 जै.ले. सं., 1,पृ.239
202	1243	1186	रेवासा	तृतीय पृथ्वीराज	अ.चौ.डा.,पृ.107
203	1244	1187	थानगढ करौली		ए. एस. आई , 20, पृ. 90
204	1244	1187	बीशलपुर, जयपुर	तृतीय पृथ्वीराज देव	ए. एस.आई., 6, पृ. 156, पी.आर.ए. एस. डब्ल्यू. सी. 1920-21, पृ. 56
205	1244	1187	पाल, जोधपुर		जे पी.ए एस.बी ,12, पृ.106
206	1244	1187	पाल, जोधपुर		जे पी.[illegible] 10 पृ. [illegible]

1	2	3	4	5	6
207	1245	1188	मु गथला, सिरोही	धारावर्ष	पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1906-07,पृ 26
208	1245	1188	बाजट	तृतीय पृथ्वीराज	ए आर आर एम अजमेर, 1911 12, पृ 2
209	1246	1189	जसोल, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी ,1911-12,पृ 54
210	1247	1190	अजारी, सिरोही	धारावर्ष	एस आर के आई, पृ 28
211	1248	1191	पाल, जोधपुर		जे पी ए एस बी , 10 पृ 410
212	1248	1191	उस्रा, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1911-12,पृ 53
213	1249	1192	पालडी, सिरोही	केल्हणदेव	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1916-17, पृ 64, जै ले स ,1, पृ 265
214	1249	1192	आगापुर, भरतपुर	सहणपाल देव	ए आर आर एम अजमेर, 1916 17, पृ 3
225	1249	1192	बामणवारजी सिरोही	धारावर्ष	पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1916-17,पृ 63
216	1250	1193	पाल, जोधपुर	सोधलदेव	जे पी ए एस बी ,10, पृ 409
217	1251	1194	सादडी, जोधपुर	जयन्तसिंह देव	पी आर ए एस डब्ल्यू सी 1907-08,पृ 38, इ आई , 11,पृ 73
218	1251	1194	सादडी जोधपुर	जयन्तसिंह	एनुअल रिपोर्ट ऑफ सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी, 1938, पृ 7

1	2	3	4	5	6
219	1251	1194	टन्टोटी	हरिराज	ए आर आर एम अज-मेर, 1911-12, पृ 2
220	1252	1195	झाण्डोली सिरोही		प्रा जै ले स, 2, स 430
221	1253	1196	दीवडा, डूगरपुर	द्वितीय भीमदेव	ए आर आर एम अज-मेर, 1914-15, पृ 2
222	1255	1198	झाण्डोली सिरोही	धारावर्ष	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1905-06, पृ 48, प्रा जै ले सं, पृ 262
223	1256	1199	जालौर, जोधपुर		इ आई, 11, पृ, 55, जै ले स, 1, पृ 239
224	1257	1200	उथमा, सिरोही	सावर्तसिंह	पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1916-17, पृ 66
225	1257	1200	नाणा, जोधपुर		पी आर ए एस डब्ल्यू सी, 1907-08पृ 49

सदर्भ ग्रंथ–सूची

अभिलेख

कोनो, स्टेन	कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम, 2 कलकत्ता।
वल्लभजी गिरजाशंकर	हिस्टोरिकल इन्स्क्रिप्शन्स् ऑफ गुजरात, 1-3, बम्बई।
गोयल, श्रीराम	भारतीय अभिलेख संग्रह, 1, जयपुर 1980
नाहर, पूर्णचन्द्र	जैन लेख संग्रह, 1-3 कलकत्ता, 1918
नोली, आर	नेपालीज इन्स्क्रिप्शन्स् इन दि गुप्त कैरेक्टर्स, रोम, 1956
विजयमूर्ति	जैन शिलालेख संग्रह 3
पाण्डुरंग दुर्गाप्रसाद काशीनाथ	प्राचीन लेख माला, 1 बम्बई 1982
फ्लीट, एफ जे	कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम, 3 वाराणसी, 1963
मिराशी, वी वी	कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम, दा *भाग, वाराणसी, 1964*
मुनिजयन्तविजय	अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह सौराष्ट्र, 1948
सरकार, डी सी	सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स् बीयरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, 1965

साहित्य

अपभ्र शकाव्यत्रयी	जी ओ एस, 1927
अर्थशास्त्र	ले कौटिल्य [कांगले द्वारा सम्पादित और अनुदित] बम्बई, 1960
उदयसुन्दरीकथा	जी ओ एस बड़ौदा, 1920
उपमितिभवप्रपचकथा	ले सिद्धर्षि, सम्पा एच जेकोबी, कलकत्ता, 1899-1914

कर्पूरमजरी	ले राजशेखर, अनु लेनमान, केम्ब्रिज, 1901
कान्हडदेप्रबन्ध	ले पद्मनाथ, सम्पा के. बी व्यास, जयपुर, 1953
काव्यमीमासा	ले राजशेखर
कीर्तिकौमुदी	ले. सोमेश्वर, बम्बई, 1883
कुमारपालचरित	ले हेमचन्द्र, पूना 1936
कुमारपालदेवचरित	ले सोमतिलक, एस जे. जी
कुवलयमालाकहा	ले उद्योतनसूरि, एस जे जी, बम्बई
खरतरगच्छपट्टावली	ले जिनपाल, सम्पा मुनिजिनविजय, कलकत्ता, 1932
तिलकमन्जरी	ले धनपाल, काव्यमाला सिरीज, बम्बई, 1938
द्वयाश्रयमहाकाव्य	ले हेमचन्द्र बम्बई, 1915
द्रव्यपरीक्षा	ठक्कर फेरू
नवसाहसाकचरित	ले पद्मगुप्त, बी एस एस, 1895
पृथ्वीराजविजय	ले जयानकभट्ट सम्पा जी एच ओझा और जी एस गुलेरी, अजमेर, 1941
प्रबन्धकोष	ले राजशेखर, एस जे जी 1935
प्रबन्धचिन्तामिणि	ले मेरुतु ग, एस जे जी 1933
प्रशस्तिसग्रह	अमृतलाल शाह अहमदाबाद वि स 1993
पुरातनप्रबन्धसग्रह	एस जे जी, 1936
मनुस्मृति	एन एस पी 1935
मानमोल्लास	ले सोमेश्वर, जी के गोडेकर, जी ओ एस ,बडोदा, 1925, 1939
रघुवश	कालिदास ग्रन्थावली, सम्पा सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ, 1962
राजतरगिणी	ले कल्हण, सम्पा रामतेज शास्त्री, वाराणसी, 1960
लेखपद्धति	जी ओ एस, 1925
विक्रमाकदेवचरित	ले विल्हण, बी एस एस,, 1835
विविधतीर्थकल्प	ले जिनपालसूरि, एस जे जी, 1934
समराइच्चकहा	ले हरिभद्र, बम्बई, 1938
सुरथोत्सव	ले सोमेश्वर बम्बई, 1902

स्मृतिचन्द्रिका — ले देवभट्ट, सम्पा जे आर, घरपूरे, बम्बई, 1918

शिशुपालवध — ले माघ, एन एस पी 1923

हर्षचरित — ले बाण, सम्पा, पी वी काणे, दिल्ली 1965

आधुनिक ग्रन्थ (अंग्रेजी)

अल्तेकर, ए एस — पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, बनारस, 1938

एज्यूकेशन इन इन्श्येण्ट इण्डिया, बनारस 1948

स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्श्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1955

अरोड़ा, राजकुमार — हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल डेटा फ्राम दि भविष्य पुराण, दिल्ली, 1972

आयंगर, के वी आर — आस्पेक्ट्स ऑफ इन्श्येण्ट इण्डियन इकानामिक थाट, बनारस, 1934

इलियट एण्ड डाउसन — दि हिस्टरी ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स 1-3, लन्दन, 1966-67.

गागूली, डी सी — हिस्टरी ऑफ द परमारज, ढाका, 1933

गोपाल, लल्लनजी — दि इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, 1965

गोयल, एस आर — ए हिस्टरी ऑफ दि इम्पीरियल गुप्तज, इलाहाबाद. 1966

गुप्त, एस पी एवं रामचन्द्रन के एस (सम्पा) — ओरिजिन ऑफ ब्राह्मी, दिल्ली, 1980

घोषाल, यू एन — कण्ट्रिब्यूशन टू दि हिस्टरी ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कलकत्ता, 1929

चौधरी, जी सी — ए पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ नार्थं इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, अमृतसर, 1954

जायसवाल, का प्र — हिन्दू पोलिटी, बगलोर, 1943

जैन, के सी — जैनिज्म इन राजस्थान, शोलापुर, 1963

एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, दिल्ली, 1972

टॉड, जेम्स	एनाल्स एण्ड एन्टिक्विटीज ग्रॉफ राजस्थान, 1920
दास, एस के	इकानामिक हिस्टरी ग्रॉफ एन्दयेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1925
देवहूति	हर्ष, आक्सफोर्ड, 1970
नियोगी, ग्रार	दि हिस्टरी ग्रॉफ गहडवाल डायनेस्टी, कलकत्ता, 1950
प्रकाश, बुद्ध	ग्रास्पेक्ट्स ग्रॉफ इण्डियन हिस्टरी एण्ड सिविलिजेशन, ग्रागरा, 1965
पाठक वी एस	एन्दयेण्ट हिस्टोरियन्स ग्रॉफ इण्डिया, दिल्ली, 1966
	हिस्टरी ग्रॉफ शैव कल्टस इन नार्दर्न इडिया, वाराणसी, 1960
प्राणनाथ	ए स्टडी इन दि इकानामिक कण्डीशन ग्रॉफ इन्ग्येण्ट इण्डिया, लन्दन, 1924
पुरी बी एन	दि हिस्टरी ग्रॉफ गुर्जर प्रतिहारज, बम्बई, 1957
वैनर्जी, ए सी	राजपूत स्टडीज, कलकत्ता, 1944
भाटिया, प्रतिपाल	दि परमारज, दिल्ली, 1970
मजूमदार, ग्रार सी	कोरपारेट लाइफ इन एन्दयेवट इण्डिया, कलकत्ता, 1922
	हिस्टरी ग्रॉफ वगाल 1, ढाका, 1943
मजूमदार, ए के	चौलुक्याज ग्रॉफ गुजरात, बम्बई, 1956
मजूमदार, वी पी	सोशियो इकानोमिक हिस्टरी ग्रॉफ नार्दर्न इण्डिया-कलकत्ता, 1960
मजूमदार, ग्रार सी एण्ड पुसालकर, ए डी	दि क्लासिकल एज, बम्बई, 1954
	दि एज ग्रॉफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, 1955
	दि स्ट्रगल फार एम्पायर, बम्बई, 1955
मिश्र, वी वी	दि गुर्जर प्रतिहारज एण्ड देयर टाइमन, दिल्ली, 1966

मुकर्जी, आर के — एन्श्येण्ट इण्डियन एज्यूकेशन, लन्दन, 1947

मुन्शी, के एम — दि ग्लोरी देट वाज गुर्जर देश, बम्बई, 1954

मैती, एस के — इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया इन दि गुप्त पीरियड, दिल्ली, 1970

यादव, बी एन एस — सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद, 1973

राय, एच सी — डायनेस्टिक हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया, 1-2 कलकत्ता, 1921, 1936

रायचौधुरी, एच सी, — पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ एन्श्येण्ट इण्डिया, 5 वा सस्करण, कलकत्ता, 1953

वैद्य सी पी — हिस्टरी ग्राफ मेडीवल हिन्दू इण्डिया, 1-2, पूना

शर्मा, बी एन — सोशल एण्ड कल्चरल हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली 1972

शर्मा, दशरथ — अर्ली चौहान डायनेस्टीज, दिल्ली द्वितीय सस्करण, 1975

राजस्थान थ्रू दि एजिज, बीकानेर, 1966

लेक्चर्स ग्रान राजपूत हिस्टरी एण्ड कल्चर, दिल्ली, 1970

शारदा, एच बी — स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, अजमेर, 1935

शुक्ल डी सी — अर्ली हिस्टरी ऑफ राजस्थान, दिल्ली, 1980

श्रीवास्तव, अशोक — इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड बाई दि अरब ट्रेवेलर्स, गोरखपुर, 1967

सरकार, डी सी — सक्सेसर्स ऑफ दि सातवाहनज, कलकत्ता, 1939

स्टडीज इन ज्योग्राफी ऑफ इन्श्येण्ट इण्डिया एण्ड मडीवल इण्डिया, दिल्ली, 1960 61

गुहिलज ऑफ किष्किन्धा, कलकत्ता, 1965

दि शाक्त पीठज, दिल्ली, 1973

सरकार, गोपालचन्द्र — ए ट्रिटाइज ग्रान हिन्दू ला, कलकत्ता, 1927

साचउ, इ सी — ग्रलबरूनीज इण्डिया, 1-2, लन्दन 1888

सिन्हा, जी पी — पोस्ट गुप्त पालिटी, कलकत्ता 1972

सिंह, ग्रार सी पी — किंगशिप इन नार्दर्न इण्डिया, यूनिवर्सिटी ग्रॉफ लन्दन, 1957

सिंह, ग्रार बी — हिस्टरी ग्रॉफ दि चाहमानज, वाराणसी, 1964

स्मिथ, वी ए — ग्रर्ली हिस्टरी ग्रॉफ इण्डिया, ग्राक्सफोर्ड, 1924

सुब्बाराव एन एस — इकानामिक एण्ड पालिटिकल कण्डीशन इन इन्स्येण्ट इण्डिया, मैसूर, 1911

सोमानी, रामवल्लभ — पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, जयपुर, 1981

त्रिपाठी, ग्रार एस — हिस्टरी ग्राफ कन्नौज, बनारस, 1937

आधुनिक ग्रन्थ (हिन्दी)

अग्रवाल, वा श — पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वाराणसी।
हर्षचरित एक सांस्कृतिक ग्रध्ययन, पटना, 1953
कादम्बरी एक सांस्कृतिक ग्रध्ययन।

ग्रोझा, गौ ही — मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, इलाहबाद, 1928
उदयपुर राज्य का इतिहास, ग्रजमेर, 1928
जोधपुर राज्य का इतिहास, ग्रजमेर, 1938
सिरोही राज्य का इतिहास, ग्रजमेर, 1911
डूगरपुर राज्य का इतिहास।

काणे, पी वी — धर्मशास्त्र का इतिहास, 1-5, ग्रनु ग्रर्जुन चौबे काश्यप, लखनऊ।

गोयल, एस ग्रार — प्राचीन भारत का राजनीतिक एव सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1969

गोयल, एस ग्रार एव गुप्त, — मागध साम्राज्य का उदय, दिल्ली, 1980

जैन, प्रेमसुमन	कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार, 1975
पाठक, वी एन	उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, लखनऊ, 1973
भण्डारकर, आर जी	वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, हिन्दी अनु वाराणसी, 1970
मिश्र, जयशंकर	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना 1974
शर्मा गोपीनाथ	राजस्थान का इतिहास, आगरा, 1980 राजस्थान के इतिहास के स्रोत पुरातत्व, 1, जयपुर, 1973
शर्मा, दशरथ	चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग जयपुर, 1972
शर्मा, आर एस	भारतीय सामन्तवाद दिल्ली, 1973
सोमानी, रामवल्लभ	वीर भूमि चित्तौड, जयपुर 1969 ऐतिहासिक शोध संग्रह, जोधपुर 1970

आरक्योलाजिकल रिपोर्ट्स :

इण्डियन आरक्योलाजी–ए रिव्यु
एन्वल रिपोर्ट आन इण्डियन एपिग्राफी
एन्वल रिपोर्ट आरक्योलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न इण्डिया
एन्वल रिपोर्ट ऑफ दि आरक्योलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया
एन्वल रिपोर्ट ऑफ दि राजपूताना म्यूजियम
प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आरक्योलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न सर्कल

शोध पत्रिकाए :

इण्डियन एण्टिक्वेरी, बम्बई
इण्डियन कल्चर, कलकत्ता
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता
जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल, कलकत्ता
जर्नल ऑफ ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बडौदा
जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास
जर्नल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट, इलाहाबाद
जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना

जर्नल ऑफ बोम्बे ब्राच ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जर्नल ऑफ बोम्बे यूनिवर्सटी, बम्बई
जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी, बनारस
एन्श्येण्ट इण्डिया, दिल्ली
एनाल्स ऑफ भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना
एपिग्राफिया इण्डिका
दि क्वारटली रिव्यू ऑफ हिस्टोरिकल स्टडीज, कलकत्ता
न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी, बम्बई
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, बनारस
भारती, उज्जैन
भारतीय विद्या, बम्बई
मरूभारती, पिलानी
प्रोसीडिंग्ज ऑफ इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस
प्रोसीडिंग्ज ऑफ राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस
राजस्थान भारती, बीकानेर
रिसर्चर, जयपुर
वरदा, बिसाऊ
विश्वम्भरा, बीकानेर
शोध पत्रिका, उदयपुर

अनुक्रमणिका